प्रथम संस्करण
१९५९

मूल्य
तीन रुपया

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

भारतीय संविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को राजभापा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन करने और उसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विविध विचारों को प्रकट करने का सक्षम साधन बनाने के लिए इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हिन्दी में सभी विपयों के उपयोगी और प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये जायँ। कितने ही लेखक और प्रकाशक इसके लिए प्रयत्नशील हैं किन्तु यह कार्य जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही विशाल एवं जटिल है, इसी से उत्तर प्रदेशीय सरकार ने भी कुछ सीमा तक इसमें अंशदान का निश्चय किया है। हिन्दी समिति के तत्त्वावधान में उसकी ओर से जो ग्रन्थ-माला प्रकाशित हो रही है, उसमें अनेक विद्वानों ने सहयोग प्रदान करने का वचन दिया है। इसी के परिणामस्वरूप हम अभी तक २७ ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके हैं तथा पचासों अन्य ग्रन्थों का प्रणयन शीघ्र समाप्त हो जाने की आशा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी समिति ग्रन्थ-माला का २४ वाँ पुष्प है। इसके लेखक श्री राघवेन्द्र सिंह गाड़रवाड़ा (मध्यप्रदेश) के निवासी हैं, जो राजनय के अच्छे जानकार एवं विद्वान् हैं। इसी विषय में आपने एम० ए० पास किया था और उसके बाद भी इसका गंभीर अध्ययन करते रहे हैं। आपने बड़े परिश्रम से यह पुस्तक लिखी है और एक कठिन विषय को यथासंभव सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। हिन्दी में अपने विपय की यह पहली पुस्तक है। अंग्रेजी तथा फ्रेंच भापाओं में भी इसकी जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमें भारत की बहुत कम चर्चा मिलती है। विपय के सम्यक् विवेचन के साथ साथ भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने तथा भारत की स्थिति समझाने का भी प्रयास आपने किया है और यही इसकी विशेपता है। भारत के स्वतंत्र हो जाने से हमारे लिए अब राजनय का ज्ञान प्राप्त करना अधिक आवश्यक हो गया है। आशा है, इस दृष्टि से यह पुस्तक सामयिक होने के साथ-साथ पाठकों के लिए उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक भी होगी।

भगवतीशरण सिंह
सचिव, हिन्दी-समिति

विषय-सूची

अपनी ओर से

हम अब स्वतन्त्र राष्ट्र के निवासी हैं और हमने अपने संविधान में हिन्दी को राजभाषा के उच्च व सम्माननीय पद पर आसीन करने का निश्चय भी कर लिया है, किन्तु हिन्दी के आलोचकगण उस पर यह आरोप लगाते हैं कि हिन्दी-साहित्य सम्पन्न नहीं है और हिन्दी भाषा का शब्द-कोष भी ऐसा नहीं है कि उसमें आधुनिक युग के नूतन विषयों की विचार-धारा को समुचित रूप से व्यक्त किया जा सके। ऐसे विषयों में से "राजनय" (डिप्लोमैसी) भी एक ह। यह आलोचना कहाँ तक उचित है, इस विवाद में पड़ना किसी के लिए हितकर न होगा। अच्छा तो यह है कि हम सब हिन्दी भाषा और साहित्य को त्रुटिहीन तथा अधिकाधिक सम्पन्न बनाने में योग दें, तभी राष्ट्र-सेवा और राष्ट्रहित हो सकेगा। इसी दृष्टिकोण से मैंने इस कठिन कार्य की दिशा में यह अपने ढंग का लघु प्रयास किया है। चूंकि अब भारत एक पूर्ण स्वतन्त्र देश है और अन्त-र्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय रूप से जागरूक रहना उसके लिए आवश्यक हो गया है, इसलिए राजनयिक मामलों पर खुले मस्तिष्क से हमें विचार करते रहना पड़ेगा। तभी हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गति-विधियों को परख सकेंगे और स्वतन्त्र रहकर जीवित रह सकेंगे।

जहाँ तक मुझे पता है, "राजनय" पर अभी तक हिन्दी में कुछ भी नहीं लिखा गया है, इसलिए मेरी कठिनाई और भी अधिक हो गयी है। अभी तक इस विषय का अधिकांश साहित्य अंग्रेजी या फ्रेंच भाषाओं में है और उसका दृष्टिकोण भी पाश्चात्य ही है। उसमें एशियाई देशों, विशेषकर भारत, के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा गया है। इस बात का इस पुस्तक में यथाशक्ति ध्यान रखा गया है। फिर भी भारतीय "राजनय" स्वयं एक ऐसा विषय है जिस पर गंभीर खोज के बाद स्वतन्त्र ग्रंथ लिखा जा सकता है।

इस पुस्तक के लिखने में जिन ग्रंथों से सहायता ली गयी है उनके नाम अन्त में दी हुई 'ग्रंथ-सूची' (बिब्लिओग्रैफी) में दिये गये हैं। यह स्वाभाविक ही है कि उनमें अधिकांश पाश्चात्य लेखकों की कृतियाँ हैं।

इस पुस्तक में जो हिन्दी पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं उनके लिए मैंने ग्रंथ-सूची में दिये गये हिन्दी-संस्कृत आंग्ल शब्द-कोषों एवं भारतीय संविधान (हिन्दी संस्करण) के अतिरिक्त अन्य फुटकर साहित्य से सहायता ली है। इनमें से भी मैंने उन्हीं शब्दों को लिया है जो अंग्रेजी पारिभाषिकों के ठीक अर्थ को ध्यान में रखते हुए सर्वाधिक उपयुक्त जँचे हैं। मैंने हिन्दी समाचार-पत्रों में प्रचलित 'कूटनीति' शब्द तथा भारत के संविधान (हिन्दी संस्करण) में प्रयुक्त "राजनय" शब्द, दोनों के स्थान पर "सामनीति" शब्द को ही अधिक उपयुक्त समझा था और ऐसा करने के कारण प्रथम अध्याय में ही बता दिये हैं। आशा है कि वे पाठकों को तर्कसंगत और उचित जँचेंगे। किन्तु फिर भी इस पुस्तक में "सामनीति" शब्द का प्रयोग न करके "राजनय" शब्द का ही प्रयोग इसलिए किया गया है कि उसे भारतीय संविधान के हिन्दी संस्करण में अपना लिया गया है।

एक बात और है, अंग्रेजी का "डिप्लोमैसी" शब्द अनेकार्थक है, क्योंकि दीर्घकालीन प्रयोग के कारण उसके साथ कई बाह्य और अनावश्यक अर्थ जुड़ गये हैं। किन्तु हिन्दी भाषा के लिए यह विषय नवीन होने के कारण "सामनीति" अथवा "राजनय" शब्दों से वे सब अर्थ प्रकट नहीं होते। इसलिए इन अन्य अर्थों के लिए यथास्थान अन्य उचित शब्द ही प्रयुक्त किये गये हैं।

पुस्तक की भाषा यथासंभव सरल रखी गयी है ताकि वह अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँच सके और रोचक भी प्रतीत हो सके।

अन्त में उन सब महानुभावों का, जिनका जाने-अनजाने सहारा लेकर मैंने हिन्दी-भाषा-क्षेत्र में चलने का यह नवीन ढंग का प्रयास किया है, मैं हृदय से आभारी हूँ। श्री कन्छेदीलालजी गुप्त, एम० ए० बी० टी० का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे इस कार्य में दिलचस्पी लेकर सुन्दर सुझाव आदि द्वारा अपने ही ढंग से मुझे सहायता पहुँचायी। वे सज्जनवृन्द भी जो मेरी त्रुटियाँ बताकर मुझे अपने ज्ञान के द्वारा नवीनतर सुझाव देंगे अथवा नवीन पथ प्रदर्शित करने का कष्ट करेंगे, सदैव मेरे तथा हिन्दी भाषा प्रेमियों के धन्यवाद के पात्र रहेंगे।

—लेखक

राजनय का स्वरूप

परिभाषा

संधिवार्ता के कौशलपूर्ण प्रयोग द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था और निर्वाह को राजनय कहते हैं।

अंग्रेजी में इसे 'डिप्लोमेसी' कहते हैं। हमारे देश के संविधान के हिन्दी संस्करण में इसके लिए 'राजनय' शब्द प्रयुक्त किया गया है, किन्तु हिन्दी पत्रों में इसके लिए 'कूटनीति' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। श्री डा० रघुवीर ने अंग्रेजी के 'डिप्लोमेसी' शब्द के लिए अपने 'प्रशासन शब्दकोष' तथा 'वृहत् आंग्ल-हिन्दी कोष'[1] में 'अंताराज्य नीति' 'कूटनीति' तथा 'राजनय' शब्द पर्याय-वाची के रूप में दिये हैं। चूँकि हमारे संविधान में 'राजनय' शब्द को ही अपना लिया गया है, इसलिए इस पुस्तक में भी उसी का प्रयोग किया गया है, यद्यपि इस हेतु 'सामनीति' शब्द की उपयुक्तता भी विचारणीय है।

१—सर अर्नेस्ट सैटो (Sir Ernest Satow) के अनुसार 'राजनय' स्वतंत्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग करने को कहते हैं, जो कभी-कभी उनके अधीनस्थ राज्यों से उनके सम्बन्धों के लिए भी लागू होते हैं।[2]

२—श्री डब्लू० ऐलीसन फिलिप्स ने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में राजनय को "अन्तर्राष्ट्रीय संधिवार्ताओं के संचालन की कला" कहा है।[3]

३—चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया में श्री विलियम वारटन मेडलीकाट के राजनय-विषयक लेख के अनुसार नित्य प्रति की भाषा में राजनय मानवीय

1. Comprehensive English Hindi Dictionary Dr. Raghubir.
2. 'A Guide to Diplomatic Practice' (4th Ed., 1957, I, p. 1)—by Sir Ernest Satow; Ed. by Sir Nevile Bland.
3. Encyclopaedia Britanica, Vol. VII (14th Ed.)

कार्यों के चातुर्यपूर्ण संचालन को कहते हैं। यहाँ हमारा राजनय के विशिष्टार्थ से मतलब है 'अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का संधिवार्ता द्वारा संचालन।'[1]

४—वेब्सटर्स न्यू इंग्लिश डिक्शनरी में राजनय की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"(क) राष्ट्रों के मध्य संधिवार्ता संचालन की कला और आचार, जैसे संधियों की (बहुधा प्रयुक्त की जानेवाली प्रणालियों और रूपों सहित) व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय समागम के संचालन का कार्य या कला अथवा ऐसे समागम में कौशल या पटुता का प्रयोग।"

"(ख) लाभ प्राप्त करने के लिए कौशल या पटुता का प्रयोग।"[2]

५—आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार—

"(क) संधिवार्ता द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवस्थापन को राजनय कहते हैं।"

"(ख) राजदूतों तथा दूतों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवस्थापन और संचालन की विधि।"

"(ग) राजनयज्ञ का कार्य अथवा कार्य-कौशल।"[3]

बोलचाल की अंग्रेजी भाषा में दीर्घकालीन प्रयोग और बोलचाल की लापरवाही के कारण "डिप्लोमेसी" शब्द के कई भिन्न और मजेदार अर्थ भी प्रचलित हो गये हैं, जैसे—वैदेशिक नीति, संधिवार्ता, संधिवार्ता संचालन की प्रक्रियाएँ और उपकरण, विदेश-विभाग की एक शाखा-विशेष और छलकपट-पूर्ण ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय संधिवार्ता का संचालन। सौभाग्य से हिन्दी भाषा के लिए यह विषय नया होने के कारण 'राजनय' शब्द के ऐसे विभिन्न और विचित्र अर्थ लगाये जाने की संभावना नहीं है, क्योंकि ये अर्थ तो दीर्घकालीन उपयोग के कारण कालान्तर में जुड़ गये हैं।

वैदेशिक नीति और राजनय में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण दोनों के विषय में सम्भ्रम होने की भी बड़ी सम्भावना है। अर्थात् एक

1. Chamber's Encyclopaedia (New Edition), Vol. IV.
2. Webster's New English Dictionary (1928).
3. Oxford English Dictionary.

शब्द दूसरे के लिए असावधानी के कारण प्रयुक्त किया जा सकता है। इसलिए इन दोनों में जो अन्तर है उसे समझ लेना आवश्यक है। किसी भी राज्य का विदेश विभाग दो रूपों में कार्य किया करता है। एक तो, वैदेशिक नीति का निर्धारण और दूसरे उस नीति को कार्यरूप में परिणत करना। वैदेशिक नीति में उन मूलभूत सिद्धान्तों का निरूपण रहता है जो सामान्यतः समस्त अन्य देशों और विशेष कर प्रत्येक अन्य देश से पृथक्-पृथक् सम्बन्धों की स्थापना और उन्हें बनाये रखने में दृष्टिगत रखने पड़ते हैं। राजनयज्ञों को इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता है और यही राजनय का कार्यक्षेत्र है।

अंग्रेजी का 'डिप्लोमेसी' शब्द

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के व्यवस्थापन या संचालन के अर्थ में डिप्लोमेसी शब्द का प्रयोग अंग्रेजी भाषा में लगभग १५० वर्षों से ही प्रचलित हुआ है। सन् १७९६ में एडमण्ड वर्क ने सर्वप्रथम इस अर्थ में इसका प्रयोग किया।[1] यूरोप में भी अठारहवीं सदी में ही इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग होना प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व लैटिन भाषा के 'रेस डिप्लोमेटिका' (Res Diplomatica) अर्थात् 'राजनयिक कृत्य', (Diplomatic Business) शब्दों का अर्थ होता था; राज्याभिलेखागारों या अधिकार-दायक पत्रों विषयक कर्म।[2]

'राज्याभिलेखागारों अथवा अधिकारदायक पत्रों विषयक कर्म' कैसे और क्यों इस अर्थ में 'डिप्लोमेसी' और 'डिप्लोमेटिक' शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, इसकी कथा भी बड़ी रोचक है जो डिप्लोमेसी शब्द की व्युत्पत्ति से सम्बन्ध रखती है।

ग्रीक भाषा में एक क्रिया है "डिप्लाउन" (Diploun) जिसका अर्थ

1. Guide to Diplomatic Practice—Satow p. 3

2. "These two occupations (viz-verifying and deciphering ancient documents) were, until late in the 17th century, called 'Res Diplomatica' or 'diplomatic business', namely, the business of dealing with archives or diplomas" (कोष्ठक के शब्द मेरे हैं)—'Diplomacy'—H. Nicolson, p. 27.

है 'दुहरा करना'। उससे बने विशेषण 'डिप्लाऊस' का अर्थ है 'दुहरापन' अथवा 'अनुज्ञप्ति'। यही ग्रीक भाषा का 'डिप्लोमेसी' बन गया। लैटिन भाषा में भी 'डिप्लोमा' शब्द समानार्थी था। रोम साम्राज्य काल में समस्त पारपत्र (पासपोर्ट) और पथिक-सूचियाँ धातुपत्रों पर खुदी रहती थीं और ये पत्र दुहरे करके एक विशेष ढंग से सीं दिये जाते थे। धातु के ये पारपत्र ही अधिकार-पत्र अर्थात् डिप्लोमा कहलाते थे, किन्तु डिप्लोमा शब्द का प्रयोग इस अर्थ में अर्थात् रोमन शासकों के शासनपत्रों के लिए रोमन सांस्कृतिक पुनरुत्थान काल (Renaissance) के विद्वान् किया करते थे और ऐसा बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक चलता रहा, यद्यपि स्वयं उन शासकों ने अथवा उनके अधीनस्थ सम्बन्धित अधिकारियों ने उन अधिकारपत्रों के लिए डिप्लोमा शब्द प्रयुक्त नहीं किया। समयान्तर में अन्य शासकीय लेख भी, विशेष कर ऐसे जो विदेशियों को कोई अधिकार देते थे अथवा जिनमें विदेशियों से की गयी संधियाँ अंकित थीं, डिप्लोमा कहलाने लगे। इस अर्थ में डिप्लोमा शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में सर्वप्रथम सन् १६४५ में हुआ।[1] जब राज्याभिलेखागारों में इन लेख्यों की संख्या अत्यधिक हो गयी तो उन्हें सूचीकृत और विवरणीकृत करके उनकी रक्षा के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियों को नौकरी पर रखना पड़ा। इन व्यक्तियों के कर्तव्य को ही "राजनयिक कृत्य" (डिप्लोमेटिक बिज़िनेस) कहा जाता रहा। कालांतर में डिप्लोमेसी उपर्युक्त पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और राज्याभिलेखागारज्ञों का कार्य अलग हो गया जिसके लिए अभी तक अंग्रेजी में 'डिप्लोमेटिक' शब्द चल रहा है। फ्रेंच भाषा में उसे 'ला डिपलो-मेटीक' (La Diplomatique) कहते हैं।

'सामनीति' ही क्यों ?[2]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हिन्दी पत्रों में 'डिप्लोमेसी' शब्द के लिए कूटनीति शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु डिप्लोमेसी के वास्तविक अर्थ

1. Guide to Diplomatic Practice—Satow p. 2

2. डिप्लोमेसी के लिए 'राजनय' ठीक है या 'सामनीति', इस सम्बन्ध में लेखक ने एक पत्र सामनीति शब्द की उपयुक्तता बताते हुए डा० यदुवंशी, स्पेशल आफिसर (हिन्दी),

पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके समकक्ष कूटनीति पर्यायवाची शब्द नहीं है। कूटनीति का शब्दार्थ होगा—'ऐसी नीति जो छल-कपट या मिथ्याचरण या जाल से पूर्ण हो।' यह अर्थ न केवल संकुचित ही है वरन् उससे इस विषय पर अनैतिकता की छाप पहले से ही लग जाती है, जिससे पाठक अथवा अन्य व्यक्ति इस विषय के पास पहुँचने के पहले ही अपना मत निर्धारित कर लेते हैं। इस प्रकार कूटनीति शब्द 'डिप्लोमेसी' के केवल उस उपर्युक्त अर्थ का परिचायक है जो बोलचाल की अंग्रेजी में प्रचलित हो गया है, जो उसका वास्तविक अर्थ नहीं है और जो सर्वथा निंद्य है। यह अर्थ है—छल-कपट-पूर्ण ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय संधिवार्ता का निर्वाह।

इसके विपरीत 'सामनीति' का शब्दार्थ होता है—'वह विद्या अथवा कला जिसमें 'सामन्' अर्थात् शांतिपूर्ण उपाय अथवा समझौते की प्रणाली उपयोग में लायी जाय।' सामनीति का वास्तविक उद्देश्य भी यही है। कम-से-कम राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) के समय से, विशेष कर इस अणुबम-उदजन बम के युग में अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ जैसा रूप धारण करती जा रही हैं और उन्हें सुलझाने के लिए राष्ट्रों के बीच में जिस प्रणाली तथा नीति का अधिकाधिक आश्रय लिया जा रहा है उसे देखते हुए 'डिप्लोमेसी' शब्द का सर्वोपयुक्त पर्याय 'सामनीति' ही हो सकता है।

इस अर्थ में 'सामन्' शब्द का प्रयोग सर्वथा नवीन नहीं है वरन् सैकड़ों वर्ष पूर्व भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता रहा है। मालवराज यशोवर्मा के राज्यकाल का एक कूप-शिलालेख (सं० ५८९) दशपुर नामक स्थान में मिला है जिसके आठवें श्लोक के पूर्वार्ध में इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया गया है—

मिनिस्ट्री आफ एजूकेशन, नयी दिल्ली को लिखा था, जिसका उत्तर उन्होंने ३ मार्च सन्'५६ को दिया और उसमें राजनय शब्द की उपयुक्तता दर्शायी तथा कारण भी बताये। उसके उत्तर में लेखक ने कुछ शंकाएँ और अपने विचार विस्तार से दिनांक २८-३-५६ को लिखे और साथ में इस "सामनीति ही क्यों" शीर्षक के अन्तर्गत लिखे अंश की प्रतिलिपि भी भेजी, किन्तु फिर उसका कोई उत्तर डा० सा० की ओर से प्राप्त नहीं हुआ।

"प्राचो नृपान् सुवृहतश्च वहूनुदीचः
साम्ना युधा च वशगान् प्रविधाय येन ।"[१]

अर्थात् जिसने पूर्व के बड़े-बड़े और उत्तर के वहुत से राजाओं को सामन् तथा युद्ध से वश में करके लोक में प्रिय तथा दुर्लभ राजाधिराज परमस्वामी का यह दूसरा उपनाम प्राप्त किया है।

भारतीय नीति में जो चार उपाय—साम, दान, भेद, दण्ड—वताये हैं उनमें साम का स्थान प्रथम और प्रमुख है। शेप तीन उपायों का प्रयोग भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों में किया जाता है किंतु वे तीनों राजनयज्ञों के कार्यक्षेत्र के वाहर समझे जाते हैं। यदि कोई राजनयिक प्रतिनिधि इन उपायों की सहायता लेता है (कम-से-कम दान और भेद की शरण तो वहुवा कई लेते हैं) तो वह अनुचित और अश्रेयस्कर या निंद्य ही माना जाता है क्योंकि ऐसी अपेक्षा राजनयज्ञ से नैतिक दृष्टि से नहीं की जाती। हाँ, कई देशों के शासन इन तीनों उपायों को भी अपनाते हैं किन्तु यह सव प्रत्येक देश का विदेश-विभाग अपने-अपने ढंग से करता है; जैसे, इतर देशों को आपत्ति-काल में आर्थिक सहायता देना और इस प्रकार उन पर प्रभाव डालकर अपने पक्ष में करना, गुप्तचरों की सहायता से दूसरे देश में शासन के विरुद्ध षड्यंत्र कराना, विद्रोह भड़काना, आर्थिक सहायता आदि वन्द कर देना, घेरा डालना, युद्ध करना आदि। एक समय तो ऐसा था जव कि यूरोप में राजदूत वह माना जाता था जो दूसरे देश में जाकर स्वदेश की भलाई के लिए झूठ वोले। उन दिनों आवागमन के सावन इतने द्रुतगामी नहीं थे कि दूर देश में पहुँचकर राजदूत हर काम के लिए अपनी सरकार से परामर्श कर सकता और दूर देश में वैठे-वैठे अपनी सरकार से सम्वन्ध स्थापित कर सकता, जैसा कि आज के टेलीफोन और तार के युग में संभव है। इसलिए अपने देश की भलाई के लिए वह जो कुछ भी और जिन उपायों के द्वारा भी कर सकता था—सव करता था। सफलता ही उसकी योग्यता की कसौटी समझी जाती थी, उसके द्वारा अपनाये गये उपाय नहीं; किन्तु अव वैसा नहीं रहा।

१ 'उत्कीर्ण लेखाञ्जलि', सम्पादक—श्री जयचन्द विद्यालंकार, प्रकाशक—मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत वुकडिपो, कचौड़ी गली वनारस, (तृतीय संस्करण, सं० २००८ वि०)

'सामनीति' शब्द के सम्बन्ध में यह शंका उठायी जा सकती है कि चूंकि साम शब्द 'साम-दान-भेद-दण्ड' नामक चार उपायों के समूह के साथ प्रयुक्त होता रहा है और चूंकि ये चार उपाय शत्रु के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त होते आये हैं इसलिए उस शब्द के प्रयोग से भी यह गन्ध आती है कि 'सामनीति' शत्रु के प्रति उपयोग में लायी जानेवाली नीति है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि जहाँ तक मुझे पता है, उक्त चार उपायों का प्रयोग शत्रुओं के प्रति ही किया जाय, ऐसा विधान कहीं नहीं किया गया है और न परंपरा के आधार पर ही ऐसा कहा जा सकता है। वास्तव में आशय यह है कि इन चार उपायों का प्रयोग सांसारिक व्यावहारिकता के नाते 'इतर पक्ष' या अधिक-से-अधिक 'विरोधी पक्ष' के प्रति किया जाना चाहिए, भले ही वह शत्रु न हो। 'शुक्रनीति' में (श्लोक २३ से ३८ तक) तो इन चार उपायों का स्पष्ट रूप से मित्र, सम्बन्धी, पत्नी, पुत्र, शत्रु आदि विभिन्न व्यक्तियों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रयोग बताया है।[1] किन्तु यदि यह मान भी लिया जाय कि इनका प्रयोग शत्रु के प्रति ही करने का विधान और परम्परा रही है तो भी 'साम' स्वयं किसी प्रकार दूषणयुक्त या निंदनीय नहीं कहा जा सकता। वह तो और भी प्रशंसनीय है क्योंकि शत्रु के प्रति भी प्रारंभ में संधिवार्ता और समझौता-पूर्ण नीति के अवलम्बन की ही बात कही गयी है।

भारत के संविधान में इसके लिए 'राजनय' शब्द प्रयुक्त किया गया है। किन्तु 'राजनय' का शब्दार्थ 'राजनीति' ही होता है और दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान को अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित करनेवालों ने राजनीति और कूटनीति से अलग और भिन्न अर्थ प्रदर्शित करने के लिए ही यह नया शब्द 'राजनय' अंग्रेजी के डिप्लोमेसी शब्द के लिए प्रयुक्त किया है।

इन सब उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही इस पुस्तक में 'कूटनीति' अथवा 'राजनय' के स्थान पर 'सामनीति' का ही प्रयोग करना ठीक समझा गया था किन्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हमारे संविधान में 'राजनय' शब्द

१--शुक्रनीति, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, अध्याय ४, श्लोक २१ से ३८ तक

अंतिम रूप से अपना लिया गया है, केवल मात्र इसलिए ही इस पुस्तक में 'राजनय' शब्द प्रयुक्त किया गया है। हाँ, जहाँ छलपूर्ण और जाल से भरी हुई नीति की चर्चा होगी वहाँ 'कूटनीति' शब्द का ही प्रयोग किया जायगा।

विषय का महत्त्व

आज भारतवर्ष स्वतंत्र है और हमने स्वतंत्र राष्ट्र की पदस्थिति से अपने देश में प्रजातंत्र का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्रारम्भ किया है। इतने बड़े आधार पर और ऐसा प्रयोग संसार के अन्य किसी देश में नहीं हुआ। समस्त संसार हमारे इस प्रयोग की गति-विधियों को बड़ी रुचि और उत्सुकता से देख रहा है, क्योंकि इसकी सफलता-असफलता पर समस्त एशिया का तथा कुछ अर्थों में समस्त विश्व का राजनीतिक भविष्य निर्भर है।

प्रजातंत्र का सबसे बड़ा पहरेदार स्वतंत्र और प्रबुद्ध जनमत ही हो सकता है और ऐसे ही जनमत की आधार-शिला पर स्वस्थ एवं शक्तिशाली प्रजातंत्र खड़ा रह सकता है। प्रबुद्ध जनता ही स्वतंत्रतापूर्वक और उत्तरदायित्व के साथ अपनी सरकार की गृहनीति या परराष्ट्रनीति का सूक्ष्मावलोकन कर सकती है। जनता तभी प्रबुद्ध होगी जब उसमें, शासन के विभिन्न अंग और वह नीति जिसके आधार पर इन अंगों का संचालन होता है, इन दोनों के विषय में ज्ञान का प्रसार हो। शिक्षित जनता में यह ज्ञान अध्ययन के द्वारा सुगमता से फैल सकता है।

इसी प्रकार यदि हम अपने देश की वैदेशिक नीति भली भाँति समझना चाहते हैं और समझकर उस नीति का संचालन अपनी विचारधारा के अनुकूल प्रकार से करना चाहते हैं ताकि (हमारे अज्ञान या नियंत्रण की शिथिलता के कारण) हमारी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आत्मघातक कदम न उठाये, तो सर्वप्रथम हमें विदेशविभाग के स्वरूप की पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी होगी—उसके भिन्न-भिन्न अंगों और उनकी कार्यप्रणाली, विशेषाधिकार आदि के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना होगा। यही इस पुस्तक का विषय है जो राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन है।

राजनय के दो अंग

राजनय के भी दो अंग हैं, यद्यपि वे दृष्टिकोण के अनुसार ही दो प्रतीत होते हैं पर दोनों में पारस्परिक इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों के मेल से ही राजनय नामक चित्र का निर्माण होता है। ये दो रूप हैं—(१) राजनयिक आचार (Diplomatic Practice) और (२) राजनयिक सिद्धांत (Diplomatic Theory)। राजनयिक आचार एक प्रकार से 'राजनयिक सेवा (Diplomatic Service) का आचारण पक्ष ही है। इसलिए उसे राजनयिक सेवा भी किसी हद तक कहा जा सकता है।

"राजनयिक सिद्धांत" से अभिप्राय संधिवार्ता के उन मूलांगों या मूलभूत प्रनियमों (Principles) से है जो समस्त अंतर्राष्ट्रीय समागम में सामान्यतः प्रयुक्त होते हैं और जो शासनपद्धतियों या वैदेशिक नीति में होनेवाले अस्थायी परिवर्तनों से स्वतंत्र रहते हैं (—हेराल्ड निकलसन)।

अगले तीन अध्यायों में इन दोनों अंगों के जन्म और विकास पर प्रकाश डाला गया है।

२

राजनयिक आचार—प्रारम्भ और विकास

प्रागैतिहासिक काल

सोलहवीं शताब्दी के सिद्धान्तवादियों (Theorists) का मत था कि देवदूत ही आदि राजनयज्ञ थे, क्योंकि वे देवलोक और भूलोक के मध्य संवाद-वाहकों का कार्य करते थे। आधुनिक इतिहासज्ञ स्पष्टतः इस मत को मान्यता नहीं दे सकते क्योंकि यह निरी कल्पना है और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

राजनय का जन्म उस समय हो गया होगा जब कि इस पृथ्वी पर मनुष्य ने अकेले भटकना वन्द करके गिरोहों या समूहों में रहना आरम्भ किया। मानव जाति के आदिकाल में प्रत्येक पुरातन असंस्कृत और वर्वर मनुष्य अकेले ही इस पृथ्वी पर विचरण करता होगा और इस प्रकार अकेले विचरते-विचरते जब मानव जाति के एक व्यक्ति की इस प्रकार के अकेले भटकनेवाले अन्य व्यक्ति से एकाएक भेंट हुई होगी तो दोनों अपने तत्कालीन स्वभावानुसार भोजनप्राप्ति या आत्मरक्षा की दृष्टि से अथवा केवल जिज्ञासा-समाधान हेतु कौतूहलवशात् एक-दूसरे पर झपट पड़े होंगे अथवा एक-दूसरे की टोह में रहने लगे होंगे। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के शत्रु या कम-से-कम विरोधी वनकर उस समय तक फिरते रहे होंगे जब तक कि एक ऐसा तीसरा व्यक्ति, पशु या मानव, दोनों के सम्मुख उपस्थित न हो गया होगा जो इन दोनों से अधिक बलशाली और दोनों का शत्रु रहा होगा। समयान्तर में जब ये दोनों मनुष्य इस तीसरे शत्रु के विरुद्ध आत्मरक्षार्थ एक हो गये होंगे, तभी राजनय का वीज पड़ा जो उस समय जाकर अंकुरित हुआ जब कि धीरे-धीरे आदिकालीन वर्वर मनुष्य पृथक्-पृथक् समूह बनाकर रहने लगे।

इस समय तक मनुष्य में यथेष्ट समझ आ गयी थी और इसी काल में हम राजनयिक आचार का नन्हा-सा किसलय निकलते देखते हैं। इस काल में

असभ्य मानव के एक गिरोह की दूसरे गिरोह से स्वाभाविक शत्रुता रहती रही होगी और वे एक-दूसरे से सदैव लड़ते रहे होंगे। किन्तु शत्रुता रहते हुए भी कभी ऐसा समय भी आता होगा जब कि दोनों गिरोह आपस में एक-दूसरे से संधिवार्ता अथवा ऐसी ही कोई चर्चा जो दोनों के स्वार्थ की हो, करना चाहते होंगे। फिर प्रत्येक समूह या उसका मुखिया अपनी-अपनी ओर से एक-एक दूत (Envoy) उस संधिवार्ता करने के लिए नियुक्त करता होगा। इसी समय दूत की शरीर-रक्षा की .समस्या उठ खड़ी हुई होगी, क्योंकि यदि दूत को भी शत्रु मानकर विरोधी समूह के सदस्य उसका वध कर डालते या उसका भक्षण कर डालते तो संधिवार्ता किसी प्रकार संभव ही नहीं हो सकती थी। इसलिए दोनों दलों ने आपस में अथवा अपने दल के भीतर ही, परिस्थितियाँ और परिणाम विचार कर, यह निश्चय कर लिया होगा कि एक-दूसरे के दूतों को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचायी जाय और संधिवार्ताकाल तक उनकी पूर्ण रक्षा की जाय।

कालान्तर में, धीरे-धीरे, समाज के रूप के परिवर्तन के साथ-साथ संदेश-वाहकों अर्थात् दूतों की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ने लगी होगी। इसलिए पहले दूत-रक्षा की जो अस्थायी व्यवस्था थी उसे स्थायी प्रथा का रूप देने की चेष्टा की जाने लगी होगी, ताकि प्रत्येक दूत-पदधारी व्यक्ति शत्रुदल में भी पूर्णतया स्वतंत्र और सुरक्षित रह सके। अतएव दौत्य पद के साथ कुछ विशेष प्रकार के अधिकार एकत्रित होते गये। ये ही अधिकार आगे चलकर राजनयिक विशेषाधिकारों (Diplomatic privileges) में परिवर्तित हो गये। केवल दूत-पदधारी व्यक्ति को ही ये विशेषाधिकार प्राप्त होने का कारण एक और भी था। उस अत्यंत पुरातन काल में प्रत्येक व्यक्ति और समाज का दायरा इतना संकुचित था कि प्रत्येक विदेशी को अस्पृश्य एवं दूषित और हानिप्रद प्रभाव डालनेवाला समझा जाता था। इसलिए इसके पहले कि कोई विदेशी व्यक्ति किसी समाज या देश की सीमा में प्रवेश पा सकता, उसे विभिन्न प्रक्रियाओं से पूर्णतया शुद्ध और कुप्रभावहीन कर लिया जाता था। ये उपाय कहीं विचित्र और कहीं कष्टदायक भी होते थे। इस शुद्धि-क्रिया की झंझटों और कष्ट से बचाने के लिए दूतों को ग्रीक देवता हरमेस (Hermes) के संरक्षण में माना जाने लगा और इस प्रकार उनके दौत्यकर्म को धर्म का चोंगा पहनाने की चेष्टा

की गयी। विशेष कर धार्मिक भावना के प्रभाव से उपर्युक्त दो कारणों से प्रत्येक दूत के व्यक्तित्व की रक्षा का विशेष महत्त्व हो गया। उसके शरीर को अनतिक्रमणीय (Sacrosanct) माना जाने लगा। इस सम्बन्ध में श्री एल० ओपेनहैम (L. Oppenheim) ने अपने ग्रन्थ "अन्तर्राष्ट्रीय विधि" में लिखा है—"और यह ध्यान देने योग्य है कि पुरातन काल में भी, जब कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी विधि का पता भी नहीं था, राजदूतों की विशेष रक्षा की जाती थी और उन्हें अन्य विशेषाधिकार प्राप्त थे। यद्यपि वे किसी विधि के कारण नहीं वरन् धर्म के कारण ही प्राप्त थे और राजदूत अनतिक्रमणीय माने जाते थे।"[1]

परन्तु हरमेस देवता की संरक्षकता में रखने के कारण दौत्यकर्म की प्रतिष्ठा पर यह कुप्रभाव पड़ा कि उसे छल से भरा हुआ समझा जाने लगा क्योंकि हरमेस अपनी चालाकी और छल-छद्म के लिए ही प्रसिद्ध था।

यूनानी काल

यूनानी सभ्यता के प्रारंभिक चरण में वहाँ के 'अग्रदूतों' (Heralds) का काम केवल संधिवार्ता-संचालन ही नहीं था। राजकीय गृहस्थी का व्यवस्थित संचालन, सभाओं और परिषदों में व्यवस्था की स्थापना और कुछ धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन करवाना आदि भी उनके कर्त्तव्य-क्षेत्र में ही आते थे।

यूनानी सभ्यता के विकास के साथ ही यूनानी नगरराज्यों के पारस्परिक राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध भी जटिलतर होते गये और तब इस आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि अग्रदूत को केवल उद्घोषक ही नहीं कुछ और भी होना चाहिए, ताकि वह दूसरे नगरराज्यों की लोकसभाओं के सम्मुख अपने नगर का दृष्टिकोण प्रस्तुत कर उसके पक्ष की जोरदार पुष्टि कर सके। इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि दूत एक ओजस्वी और प्रभावशाली वक्ता तथा कुशाग्रबुद्धि, तीव्र स्मरणशक्ति और बुलंद आवाजवाला होना चाहिए। यह ई० पू० छठी शताब्दी की बात है।

1. "And it is remarkable.........sacrosanct."
'International Law' by L. Oppenheim, *Vol. I, p.* 687

प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासज्ञ थ्यूसीडाइडीस (Thucidides) के विवरणों को पढ़ने से मालूम होता है कि ये वक्तृताएँ कितनी ओजस्वी और सुदीर्घ हुआ करती थीं। उनसे यह भी मालूम होता है कि ई० पू० पाँचवीं सदी में राजनयिक आचार (Diplomaticc practicc) परिमार्जन की किस सीमा तक पहुँच चुका था। उक्त इतिहासज्ञ ने स्पार्टा-निवासियों की एक लोकसभा का (ई० पू० ५वीं सदी) विवरण दिया है जिसमें उन्होंने अपने सहयोगियों और मित्रों को यह निर्णय करने के लिए आमंत्रित किया था कि क्या एथेन्स राज्य ने अपनी संधियों को भंग या उनका उल्लंघन किया है और क्या इस दुष्कृत्य के लिए उसे दंडित करने के लिए उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देनी चाहिए? उक्त सभा में वक्तृताओं की समाप्ति के पश्चात् युद्ध का प्रस्ताव पहले कंठ-स्वर और फिर मतगणना के आधार पर पारित हो गया। महत्त्वपूर्ण वात यह है कि इसी समय स्पार्टा में एक एथेन्सीय प्रतिनिधि-मंडल किसी व्यापारिक संधि के सिलसिले में आया हुआ था और वह उक्त सभा में अनिमंत्रित होने पर भी उपस्थित ही नहीं था वरन् उसे वीच-वीच में अपना मत व्यक्त करने दिया जाता था। यही नहीं, युद्धविषयक प्रस्ताव पारित होने पर भी इस प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यों को उनके शत्रु-राज्य के नागरिक होने पर भी, उस समय तक स्पार्टा में रहने दिया गया जब तक कि उन्होंने अपना संधि-विषयक विशेष कार्य समाप्त नहीं कर लिया।[1]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ई० पू० पाँचवी सदी तक यूनानियों ने राजनयिक आचार में यथेष्ट उन्नति कर ली थी और स्वराष्ट्रीय एवं परराष्ट्रीय हितों में सामंजस्य स्थापित करने की आकांक्षा ने कुछ सर्वव्यापी मौलिक तत्त्वों की स्थापना कर दी थी।

रोमन साम्राज्य काल

रोमन सभ्यता पर यूनानी सभ्यता का व्यापक प्रभाव पड़ा। अतएव अन्य विषयों की तरह राजनय के क्षेत्र में भी रोमन लोगों ने यूनान की परम्पराओं को प्राप्त किया किन्तु वे स्वयं राजनयिक आचार के क्षेत्र में अपनी ओर से कुछ

1. Diplomacy by H. Nicolson, p. 22

भी न दे सके । इसका कारण यह था कि रोमनों में राजनयिक अभिरुचि या योग्यता नहीं थी क्योंकि वे अपने कठिनतम विरोधी को कुचलना ही जानते थे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नृशंसतम उपाय काम में लाते थे ।

रोमनों की जो कुछ भी देन राजनय को है वह सैद्धांतिक क्षेत्र में है, न कि आचार-क्षेत्र में । वे लोग 'नैसर्गिक विधि' या 'प्राकृतिक विधि' (Naturcl Law) नामक कुछ नियमों को मानते थे जो उनकी समझ में समस्त मानव जाति पर लागू होते थे। इसलिए वे संधियों की पवित्रता और उनके पूर्ण पालन में विश्वास करते थे और वचन के निष्ठापूर्ण निर्वाह पर जोर देते थे। संधियों की व्याख्या में वे शव्दों पर नहीं वरन् विचार और न्याय पर जोर देते थे ।

वाइजैण्टाइन साम्राज्य काल

रोम साम्राज्य के अंतिम दिनों में उसका केन्द्र-विन्दु रोम से हटकर निकट-पूर्व में कुस्तुन्तुनिया में पहुँच गया था । इस वाद के साम्राज्य को वाइजैण्टाइन साम्राज्य (अन्त सन् १४५३ ई०) कहा जाता है और उसके शासकों को वाद के रोमन सम्राट भी कहा जाता है। असंस्कृत यूरोपीय जातियों के आक्रमणों से इस साम्राज्य की शक्ति शनैः शनैः क्षीण होती जा रही थी । स्वाभाविकतः वाइजैण्टाइन सम्राटों ने राजनयिक कौशल का वड़े ही कलात्मक ढंग से प्रयोग किया। इस क्षेत्र में उन्होंने तीन प्रमुख अस्त्रों का उपयोग किया। प्रथम, उन असंस्कृत वर्वर जातियों में पारस्परिक विद्वेप का वीज बोकर उन्हें शक्ति-हीन कर देना ताकि वे उक्त साम्राज्य पर संघटित होकर या विलग-विलग आक्रमण न कर सकें। द्वितीय, सीमांतदेशीय जातियों को धन-वितरण आदि प्रयोगों के द्वारा प्रसन्न रखना ताकि वे अपनी मित्र वनी रहें और शत्रुओं से मिल-कर अपने विरुद्ध कार्यवाहियों में भाग न लें। तृतीय, विधर्मियों को ईसाई वना-कर उन्हें धर्म के नाम पर अपने पक्ष में और वर्वर जातियों के विपक्ष में रखना ।

अपने पड़ोसी शासकों को एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ाने के लिए इन शासकों की महत्त्वाकांक्षाओं, दुर्वलताओं और उपकरणों आदि के सम्वन्ध में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करना वाइजैण्टाइन सम्राटों के लिए अनिवार्य था। इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि वाइजैण्टाइन सम्राटों के दूत इन शासकों के राजदरवारों में पहुँचकर केवल ओजस्वी वक्तृता देकर ही न रह जायँ वरन्

उन पड़ोसी राज्यों की आंतरिक परिस्थितियों, उनके पारस्परिक सम्बन्धों आदि की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर अपने सम्राट को तद्‌विषयक सम्यक् सूचना प्रेषित कर उसे अवगत करायें। परिणाम यह हुआ कि अपने इस उद्देश्य में सफल होने के लिए प्रत्येक दूत के लिए ये गुण परमावश्यक हो गये—गूढ़ावलोकन की क्षमता, दीर्घकालीन अनुभव और स्वस्थ व निष्पक्ष निर्णय देने की क्षमता। जस्टिनियन ने इन्हीं उपर्युक्त उपायों का प्रयोग करके अपना प्रभुत्व सूडान, ऐबीसीनिया और अरब देश पर फैलाया था तथा बाद के बाइजैण्टाइन सम्राटों ने इन्हीं का प्रयोग बल्गर (Bulgarian), मेग्यर (Mcgyar) और रूसी (Russian) जातियों के आतंक से बचने के लिए किया था।

इस काल में राजनयिक समागम विकसित और व्यवस्थित होकर यथेष्ट सीमा तक परिमार्जित हुआ। इस राज्य काल में बहुसंख्यक, सुयोग्य, कुशल व चतुर दूतों को नियुक्त किया जाता था जिनके कार्य के संचालन, देखरेख तथा पथ-प्रदर्शन के लिए एक संघटित परराष्ट्र-विभाग रहता था। विदेशी शासनों तथा दूतमंडलों से संधिवार्ता आदि के समय सौजन्य एवं उचित समारोहों का भी विशेष ध्यान रखा जाता था।

मध्ययुग (Middle Ages) और आधुनिक काल

(१) **आधुनिक राजनय का प्रारम्भ**—आधुनिक राजनय ईसा की तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में इटली से उद्‌भूत हुआ। किन्तु राजनय एक नियमित व्यवसाय के रूप में ईसा की १५वीं सदी में उस समय प्रकट हुआ जब कि इटालियन प्रायद्वीप के विभिन्न राज्यों ने स्थायी राजदूतों की नियुक्ति प्रारम्भ की। स्थायी राजदूतों से अभिप्राय यह है कि उनकी नियुक्ति विगत काल के समान किसी कार्यविशेष की अथवा किसी संधिवार्ता की पूर्ति तक के लिए ही नहीं की जाती थी और इसलिए ऐसे कार्य या वार्ता की समाप्ति हो जाने से उनके पद का अन्त नहीं होता था। इसके विपरीत एक दूत के अपना स्थान त्यागने के बाद उस स्थान पर अन्य दूत भेजे जाने का नियम प्रचलित हुआ जो अपने पूर्ववर्ती दूत का पदभार सम्हाल लेता था।

वर्तमान राजनय को जन्म देने का श्रेय इटली को इटालियन राज्यों की भौगोलिक स्थिति के कारण प्राप्त हुआ क्योंकि ये राज्य एक-दूसरे के इतने अधिक

समीप थे कि वे पारस्परिक सम्पर्क बराबर बनाये रख सकते थे। इस समीपता का एक सीधा परिणाम तो यह हुआ कि आर्थिक, व्यावसायिक आदि दृष्टियों से उनके पारस्परिक सम्बन्ध अत्यधिक घनिष्ठ रहते थे। इसके विपरीत इन राज्यों में पारस्परिक शक्ति-संतुलन एक-दूसरे की शक्ति या वैभव की वृद्धि के कारण ऐसा अस्थिर रहता था कि उनमें शक्तिसंचय हेतु और स्वपक्ष को सर्वाधिक बलवान् बनाने के लिए घोर प्रतिस्पर्धा रहती थी, जिसके लिए वे एक-दूसरे के विरुद्ध संधिसंगठन बनाने और नष्ट करने में भी सक्रिय रहते थे।

(२) **स्थायी राजदूतावासों का जन्म**—स्थायी राजदूतावास या प्रणिध्यावास (Legation) का प्रारंभ कब और कहाँ हुआ, इस सम्बन्ध में कोई एक मत नहीं है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसका प्रारम्भ पोप के 'प्रणिधि' (Legate) नामक राजनयिक प्रतिनिधि के रूप में हुआ, तो किसी का कथन है कि प्रथम स्थायी दूतावास की स्थापना मिलान के ड्यूक फ्रांसेस्को स्फोरज़ा (Francesco Sforza) ने सन् १४५५ में जेनोआ में की थी। इसके विपरीत मत यह है कि ड्यूक फ्रांसेस्को स्फोरजा ने प्रथम राजदूत सन् १४४६ में फ़्लोरेंस राज्य को प्रेषित किया जिसका नाम निकोडेमा डी पान्ट्रेमॉली (Nicodemo de Pontremoli) था। एक मत यह भी है कि स्थायी राजदूतावासों का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव तेरहवीं सदी में ही हो गया था यद्यपि उनका सामान्य प्रचलन चार शताब्दियों के बाद ही हो सका। किन्तु एक बात निर्विवाद है कि स्थायी राजदूतावासों का जन्म इटालियन प्रायद्वीप के पाँच राज्यों के मध्य ही हुआ और सबने प्राय: एक साथ ही इसकी आवश्यकता का अनुभव किया, भले ही इसे कार्य रूप में परिणत करने में एक राज्य दूसरे राज्य से कुछ वर्ष आगे या पीछे रहा हो। "असल बात यह है कि उक्त प्रायद्वीप के पाँच शक्तिशाली राज्य—वेनिस, मिलान, फ्लोरेंस, नेपिल्स और पेपेसी (Papacy)—अस्थिर शक्ति-संतुलन की स्थिति में पहुँच चुके थे जिससे अविच्छिन्न जागरूकता आवश्यक हो गयी थी और सबने एक-दूसरे की राजसभा में नियमित प्रतिनिधित्व की आवश्यकता का अनुभव प्राय: एक साथ किया।"[1] वास्तव में

1. Article on 'Diplomacy' by William Norton Meredith in Chamber's Encyclopaedia (New Edition), Vol. IV

व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि कब और किसने एकाकी रूप से स्थायी राजदूतावास का प्रारंभ किया वरन् यह है कि क्यों इस संस्था का प्रचलन नियमित रूप से हुआ तथा इसमें अग्रणी होने का श्रेय किन राज्यों को प्राप्त हुआ। यही बात ऊपर स्पष्ट की गयी है।

सन् १४६० में सेवाय के ड्यूक ने अपना स्थायी प्रतिनिधि रोम में नियुक्त किया। १४९६ ई० में वेनिस राज्य ने अपने लंदननिवासी दो व्यापारियों को इंग्लैंड में अपना स्थायी उप-प्रतिनिधि नियुक्त किया। कुछ वर्षों पश्चात् इटालियन राज्यों के स्थायी राजदूतावास लंदन और पेरिस में खोले गये जिसका अनुकरण अन्य राष्ट्रों ने बाद में किया। इंग्लैण्ड की ओर से सन् १५१९ में सर टॉमस बोलीन और डा० वेस्ट स्थायी राजदूत के रूप में फ्रांस भेजे गये। इसी समय के लगभग फ्रांस ने भी इसी दिशा में कदम उठाया।[1] ऐसा फ्रांस ने सम्राट लुई ग्यारहवें के समय में किया और प्रथम सुसंगठित एवं स्थायी राजनयिक सेवा की स्थापना का श्रेय फ्रांस को ही है जो फ्रांसिस प्रथम नामक शासक ने स्थापित की। स्थायी राजदूतावासों का सामान्य प्रचलन सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ[2], और उसके बाद १८ वीं सदी के अन्त में ही 'डिप्लोमेसी' और 'डिप्लोमेटिस्ट' शब्दों का सामान्य प्रयोग भी प्रारंभ हुआ।

मध्य युग में राजनयिक कला में सर्वाधिक प्रवीण राज्य वेनिस गणराज्य था। १६वीं सदी में उसके साधारण राजदूत वियेना, पेरिस, मेड्रिड और रोम में थे, तथा बासामात्य टूरिन, नेपिल्स, मिलान और लंदन में।[3] उस पर बाइजैण्टाइन साम्राज्य की राजनयिक परम्परा का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उक्त साम्राज्य की तरह यहाँ भी दूत बड़ी सावधानी के साथ और योग्यता के आधार पर चुने जाते थे और संधिवार्ता आदि कार्य-संचालन में सौजन्य, शिष्टाचार आदि का ध्यान रखा जाता था। १३वीं सदी में राजदूतों के कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करने के लिए कई कानून भी बनाये गये। उदाहरणार्थ सन् १२६८ में एक विधि के अनुसार यह निश्चय किया गया कि कोई राजदूत अपने साथ अपनी स्त्री को न ले जाय, इसके विपरीत उसे अपना रसोइया

1. Diplomacy—H. Nicolson, p. 30, 31
2. International Law—L. Oppenheim, p. 688
3. Guide to Dip. Practice—Satow, p. 164, para 282

अवश्य ले जाना चाहिए। कारण स्पष्ट है कि स्त्री के कारण वह अनेक अदूरदर्शिता के कृत्य कर डालता जब कि उसका निजी रसोइया रहने से कोई भोजन के द्वारा उसकी हत्या नहीं कर सकता था।

(३) **राज्याभिलेखागार और राज्याभिलेखपाल** (Archives and Archivists)—प्रत्येक राष्ट्र के विदेशविभाग से सम्बद्ध एक राष्ट्रीय राज्याभिलेखागार रहता है जिसका सम्बन्ध अन्य राजकीय अभिलेखों के अतिरिक्त विदेश-विभागीय अभिलेखों से विशेष रूप से रहता है। एक सुव्यवस्थित राज्याभिलेखागार के बिना कोई भी विदेशविभाग सुचारु रूप से कार्य नहीं कर सकता। इसी लिए प्रत्येक देश में इस राज्याभिलेखागार के व्यवस्थित संचालन के लिए प्रशिक्षित राज्याभिलेखपालों की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यह कला भी राजनय का एक विशेष और अनिवार्य अंग है।

प्रशिक्षित राज्याभिलेखपालों की इस विद्या ने रोम साम्राज्य काल में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था। उस युग में उसे 'चान्सलर' कहा जाता था और राजकीय आदेशों पर उसके हस्ताक्षर होना अनिवार्य था। इस प्रकार इस कला को जन्म देकर उसे पद्धति-बद्ध रूप देने का श्रेय भी इटली को ही प्राप्त है। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार रोम-साम्राज्य-काल में धातु-पत्रांकित पारपत्रों को 'अधिकारपत्र' (डिप्लोमा) कहा जाता था और किस प्रकार बाद में इन अधिकारपत्रों के अधिक संख्या में जमा हो जाने के कारण प्रशिक्षित लिपिकों को इन अभिलेखों के स्पष्टीकरण, विवरण आदि के लिए नियुक्त किया जाने लगा।

(४) **राजदूत, अर्द्धराजकीय अभिकर्तागण[1] और अग्रत्व का नियम**—परिस्थिति के और नियुक्त करनेवाली सत्ता के स्वरूप के आधार पर राजनयिक या अर्द्ध-राजनयिक प्रतिनिधियों के कई नाम प्रचलित थे, जैसे मध्ययुग में उन्हें 'ननशियस' (Nuntius), 'लीगेटस' (Legatus), 'मेण्डेटेरियस' (Mendatarius), 'कमिस्सेरियस' (Commissarius), 'ओरेटर' (Orator), ऐम्बेक्सिएटर (Ambaxiator) आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। इनके स्थान पर बाद में चलकर 'ननशिओ' (Nuncio),

1. Semi-official agents

'लीगेट' (Legate), 'ओरेटर' (Orator), 'कमिस्सार' (Commissar), 'प्रोक्योरेटर' (Procurator), 'ऐम्बेसेडर' (Ambassador) शब्द प्रयुक्त होने लगे। लीगेट और ननशिओ दोनों विशिष्टार्थक बनकर पोप के राजनयिक प्रतिनिधियों के लिए प्रयुक्त किये जाने लगे। इसलिए हम उन्हें क्रमशः 'पोपीय राजदूत' और 'पोपीय दूत' कह सकते हैं। कमिस्सार वास्तव में ईसाई धर्म के 'बिशॉप' के स्थानीय सहायक को कहते हैं। आजकल जिन्हें 'कमस्सिरी' कहते हैं वे एक राज्य के द्वारा दूसरे राज्य को प्रशासकीय और प्राविधिक (Administrative & technical) संधिवार्ता के लिए अधिकृत रूप से भेजे जाते हैं। उनका राजनीतिक संधिवार्ता से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इन्हें हिन्दी में 'प्राध्यक्ष' कह सकते हैं।

'प्रोक्योरेटर' रोमन साम्राज्य काल में एक राजकर्मचारी था जो राजकीय कोष के प्रतिनिधि के रूप में किसी प्रान्त में रहता था। स्पष्ट है कि उपर्युक्त समस्त कर्मचारी किसी-न-किसी रूप में थोड़े हेर-फेर से किसी-न-किसी सत्ता का प्रतिनिधित्व राजनयिक, अर्द्ध-राजनयिक या अराजनयिक कार्यों के लिए करते थे। धीरे-धीरे राजनयिक प्रतिनिधि दो स्पष्ट और भिन्न वर्गों में विभक्त होने लगे। "यह द्विवर्गीय विभेद सोलहवीं शताब्दी में प्रकट हुआ और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक जब कि स्थायी राजदूतावासों का सामान्य प्रचलन हो चुका था, राजनयिक दूतों के ये दो वर्ग सामान्यतः माने जाने लगे—असाधारण दूत जिन्हें राजदूत कहते थे और साधारण दूत जिन्हें 'रेज़ीडेण्ट' (Resident) या 'दासामात्य' कहते थे। राजदूतों को अधिक सम्मान दिया जाता था और वे अन्य दूतों से पहले अग्रत्व प्राप्त करते थे।"[1] सत्रहवीं सदी के मध्य में सामान्य स्थिति ऐसी थी, लगभग यही मत सेटो के ग्रंथ 'Guide to Diplomatic Practice' में दिया गया है।[2]

आज के समान उन दिनों भी राजदूत सैद्धांतिक दृष्टि से अपने राज्याधिपति (Head of the State) का व्यक्तिगत प्रतिनिधि रहता था। इस व्यक्तिगत

1. "But during the sixteenth century.........and taking precedence of the other envoys."
'International Law' by L. Oppenheim Vol. I, p. 695
2. A Guide to Diplomatic Practice—Satow, p. 165pr, 2ae 83

प्रतिनिधित्व का अर्थ यह होता था कि प्रत्येक राजदूत अपने राज्याधिपति के उत्कर्ष और गौरव का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करता था। दूसरे शब्दों में अपने राजदूत के रूप में स्वयं राज्याधिपति विदेश में उपस्थित रहता था। व्यक्तिगत प्रतिनिधित्व के इस रूप के परिणामस्वरूप 'अग्रत्व' या 'पूर्ववर्तिता' की प्रथा का जन्म हुआ जिसके कारण कई अशोभनीय झंझटें और झगड़े तैयार हुआ करते थे। 'अग्रत्व' से अभिप्राय उस प्रचलित नियम से है जिसका ध्यान किसी देश के उच्च-स्तरीय राजकीय, सामाजिक समारोहों या राजनीतिक परिषदों आदि में उक्त देशस्थित विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों के स्थान ग्रहण के क्रम में रखना पड़ता है। इसका विचार उन दिनों भी किया जाता था। चूंकि राजदूत अपने राज्याधिपति के गौरव, शक्ति तथा सम्मान का प्रतिनिधित्व करता था इसलिए यह स्वाभाविक था कि उस प्रकार के सामाजिक समारोहों में प्रत्येक राजनयिक प्रतिनिधि को उसके राज्याधिपति की श्रेष्ठता के अनुसार ही स्थान दिया जाय अर्थात् सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रतिष्ठित राज्य के राजदूत को सबसे पहला स्थान, दूसरी श्रेणी के राज्य के राजदूत को दूसरा स्थान और इसी तरह सबसे कम शक्ति-गौरववाले राज्य के राजदूत को अंतिम स्थान। सिद्धान्त और तर्क की दृष्टि से तो यह नियम बड़ा अच्छा था किन्तु इसे व्यवहार में लाते समय यह जटिल प्रश्न उठता था कि इसका निर्णय कौन करे कि अमुक राज्य शक्ति, गौरव या सम्मान की दृष्टि से श्रेष्ठ है और अमुक उससे निम्न श्रेणी का। उन दिनों न तो ऐसी कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता थी जिसके मत को समस्त राष्ट्र मान्यता देने को तैयार हो जाते और न इस प्रश्न पर कोई लिखित संधि या समझौता ही था। इसलिए उक्त 'अग्रत्व' या 'पूर्ववर्तिता' को लेकर विभिन्न राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों में और फिर परिणामस्वरूप उनके राज्यों में आपस में आये दिन झंझटें खड़ी हो जाया करती थीं जिससे कभी-कभी तो युद्ध तक की नौबत आ जाती थी। इस प्रकार के झगड़े आजकल नहीं होते। वैसे सन् १८१५ तक तो ईसाई संसार के लिए अग्रत्व का निर्णय पोप किया करता था और इसमें अपनी गणना प्रथम स्थान में, पवित्र रोम साम्राज्य के सम्राट की द्वितीय स्थान एवं रोमनों के राजा (King of the Romans) की तृतीय स्थान में करता था। किन्तु पोप के इस वर्गीकरण से भी राष्ट्रों में सन्तोष नहीं रहता था।

इस प्रकार के झगड़ों में से केवल दो रोचक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

(क) सितंबर ३० सन् १६६१ को लंदन में स्वीडन के राजदूत के पहुँचने पर उनकी शासकीय बग्घी (Coach) के पीछे उससे लगकर फ्रांस के राजदूत की बग्घी लगाने का प्रयास किया गया तो स्पेनिश राजदूत के भृत्यों ने उन्हें बलपूर्वक रोका और आगे नहीं बढ़ने दिया। परिणामस्वरूप दोनों दलों में आपस में अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग हुआ जिससे रक्तपात हुआ और अधिक क्षति फ्रांसीसी राजदूत के दल को पहुँची। इस घटना से अपने को अपमानित अनुभव कर फ्रांसीसी राजा लुई १४वाँ अत्यधिक कुपित हुआ। उसने स्पेनिश राजदूत को अपने राज्य से निकल जाने का आदेश दिया और मेड्रिड-स्थित फ्रांसीसी राजदूत को आदेश दिया कि वह स्पेन के राजा से लंदन-स्थित स्पेनिश राजदूत को दंड देने और भविष्य में प्रत्येक देश में स्पेनिश राजदूतों के समक्ष फ्रांसीसी राजदूतों को पूर्ववर्त्तिता देने की माँग करे। यदि स्पेन इन शर्तों को न माने तो युद्ध घोषित करने की धमकी भी दी गयी। स्पेन के राजा ने दोनों शर्तें स्वीकार कर लीं।

(ख) सन् १७६८ के शीतकाल में लंदन-राजसभा में एक उत्सव के समय फ्रांसीसी तथा रूसी राजदूतों में भी पूर्ववर्त्तिता पर फिर से झगड़ा हो गया। रूसी राजदूत को उसके शासन के आदेश थे कि वह पोपीय दूत तथा "सम्राट" (the Emperor) के अमात्यों के अतिरिक्त किसी की पूर्ववर्त्तिता स्वीकार न करे। उक्त उत्सव में चूँकि रूसी राजदूत पहले पहुँचा इसलिए उसने "सम्राट" के राजदूत के बाद ही स्थान ग्रहण किया। किंतु बाद में फ्रांसीसी राजदूत ने आकर बलपूर्वक दोनों के बीच में प्रवेश कर स्थान बनाकर उसे ग्रहण कर लिया। बात यहाँ तक बढ़ गयी कि दोनों में द्वन्द्व-युद्ध हुआ—जिसमें रूसी राजदूत को थोड़ी चोट भी पहुँची।

इस अनिश्चितता का परिणाम यह होता था कि इस अग्रत्व के दुष्परिणामों को राजदूतों को स्वयं ही भुगतना पड़ता था। सोलहवीं सदी और सत्रहवीं सदियों के राजनयिक इतिहास को देखने से इसके कई उदाहरण मिलेंगे। अपने-अपने अग्रत्व की रक्षा के लिए उन्हें आपस में द्वन्द्व-युद्ध तो लड़ना ही पड़ता था परन्तु साथ ही उन्हें अपने राज्याधिपति के गौरव और उत्कर्ष के अनुरूप तड़क-भड़क बनाने और प्रदर्शित करने में जो कुछ व्यय होता था वह प्रायः सब अपनी गिरह

से करना पड़ता था। स्वभावतः उनकी सेवा का परिणाम यह होता था कि सेवा-मुक्त होते समय उनके ऊपर अत्यधिक ऋण का भार होता था।

उपर्युक्त प्रकार के वैभव के बनावटी सामाजिक बंधन के कारण राजदूत विदेश में केवल उक्त देश के राजपरिवार के सदस्यों से ही मिलजुल सकते थे। अन्य निम्नस्तरीय राजकर्मचारियों से या जनता के मध्य किसी व्यक्ति से मिलना असम्माननीय और अशोभनीय समझा जाता था। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके सूचना-सूत्र नितांत सीमित होने के कारण वे अपने देश की जानकारी या हित के लिए अधिक सामग्री संकलित नहीं कर सकते थे। इसी लिए फिर अर्द्ध-राजकीय राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति प्रारंभ हुई। इन पर खर्च कम पड़ता था और ये काम के भी अधिक सिद्ध होते थे। किन्तु ये अधिकांशतः अविश्वसनीय और भ्रष्ट होते थे।[1]

सन् १८१५ के बाद

दूतों का वर्गीकरण और 'अग्रत्व' के सिद्धांत का नियमन—उपर्युक्त 'अग्रत्व' विषयक झगड़ों को निपटाने की इच्छा से राज्यों ने अठारहवीं सदी में राजदूत और 'वासामात्य' (Resident) के बीच 'पूर्णशक्तामात्य' (Minister Plenipotentiary) नामक एक तृतीय वर्ग की सृष्टि की। परन्तु उससे भी समस्या हल नहीं हुई। अन्त में नैपोलियन को परास्त करनेवाली समस्त शक्तियों की सन् १८१५ की एक सभा ने वियेना कांग्रेस (Vienna Congress) में राजनयिक प्रतिनिधियों को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया–(१) राजदूत, (२) पूर्णशक्तामात्य और असामान्य दूत तथा (३) कार्यदूत। इसके बाद सन् १८१८ की ए-ला-शपल कांग्रेस (Congress of Aix-La-Chapelle) में उपर्युक्त दूसरे और तीसरे वर्ग के नीचे एक चतुर्थ वर्गीय राजनयिक दूत को भी मान्यता दी गयी जिसे 'वासामात्य' (Minister Resident) कहा गया। पोपीय राजदूत और पोपीय संदेशवाहक को राजदूत के साथ प्रथम श्रेणी में रखा गया। यद्यपि वियेना और ए-ला-शपल की सभाओं में समस्त राज्य उपस्थित नहीं थे किन्तु फिर भी उपर्युक्त वर्गीकरण को समयान्तर में अन्य राज्यों ने भी

1. Diplomacy—H. Nicolson, p. 32

मान्यता देना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार यही वर्गीकरण आज सर्वमान्य है। इसके विपरीत यदि किसी देश ने अपनी इच्छानुसार वर्गीकरण किया तो वह था सोवियत रूस, जिसे क्रान्ति की नयी आँधी ने प्रत्येक पुरानी रूढ़िगत वात का शत्रु बना दिया था। उसने साम्यवादी सिद्धान्त के अनुसार वर्गगत भेद-भाव मिटाने के उद्देश्य से जून सन् १९१८ में अपने समस्त राजनयिक दूतों की भी एक ही श्रेणी वना दी जिन्हें पूर्ण शक्तिधारी प्रतिनिधि कहा जाने लगा। परन्तु अपने ढंग की नयी वस्तु होने के कारण सोवियत रूस के राजनयिक प्रतिनिधियों को विदेशों में समान पदवाले अन्य देशीय राजनयिक प्रतिनिधियों की वरावरी का सम्मान, पद, स्थान आदि प्राप्त नहीं होते थे। परिणाम-स्वरूप सोवियत रूस ने धीरे-धीरे पुराना वर्गीकरण अपनाना प्रारंभ किया।

उपर्युक्त सभाओं में उपस्थित शक्तियों ने यह भी निश्चित किया कि अग्रत्व अर्थात् पूर्ववर्त्तिता की दृष्टि से उक्त चार दूत-श्रेणियाँ एक-दूसरे के वाद उपर्युक्त वर्णित क्रम से ही स्थान पायेंगी और प्रत्येक वर्ग में पूर्ववर्त्तिता दूत की नियुक्ति की तिथि के प्राथम्य के अनुसार ही निश्चित की जायगी, अर्थात् एक ही वर्ग के राजनयिक प्रतिनिधियों में पहले नियुक्त होनेवाले को पूर्ववर्त्तिता पहले और वाद में नियुक्त होनेवाले को वाद में प्राप्त होगी। वैसे सन् १७६० में पोर्तगाल के प्रधान मंत्री ने यही नियम लागू करना चाहा था किन्तु असफल रहा, क्योंकि अन्य राज्यों ने तीव्र विरोध किया था।[1] मृत्यु, त्यागपत्र, स्थानान्तर आदि के वाद जो नियुक्तियाँ होती हैं उनके लिए पूर्ववर्त्तिता का निर्णय कैसे किया जाता है यह अंतर्राष्ट्रीय विधि का विषय है और उसे वताने के लिए विस्तार में जाने की आवश्यकता पड़ेगी जो यहाँ सम्भव नहीं है। नियुक्ति की तिथि के आधार पर पूर्ववर्त्तिता का निर्णय करने के नियम के अनुसार किसी देश में अपने स्थान पर सबसे पुराने राजदूत को सर्वाधिक सम्मान प्राप्त होता है। और नियुक्ति के आधार पर उक्त देशस्थित समस्त राजनयिक प्रतिनिधियों में सयाना होने के कारण उसे 'दूतवरिष्ठ' (Doyen of the Diplomatic Corps) की उपाधि से विभूषित करते हैं।

1. A Guide to Diplomatic Practice, by Satow.

इस सबके बाद भी पूर्ववर्त्तिताविषयक कुछ प्रश्न व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण बिना हल के रह गये, जैसे, स्थायी राजनयिक प्रतिनिधि और अवसर-विशेष के लिए प्रेषित प्रतिनिधि के मध्य पूर्ववर्त्तिता। किन्तु आजकल पूर्व-वर्त्तिता का उतना अधिक महत्त्व नहीं रह गया जितना पहले था। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सन् १८०६ में 'पवित्र रोम साम्राज्य' का अंत हो गया जिससे अन्य राज्यों से पूर्ववर्त्तिता प्राप्त करने का अधिकारी कोई राज्य नहीं रह गया और सभी पूर्ण-स्वतंत्र संप्रभुसत्तात्मक राज्य समान पद के माने जाने लगे। दूसरे, वियेना कांग्रेस के समय से संधि आदि पर हस्ताक्षर करने के लिए विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा "एकांतरता" (Alternate) का नियम अपनाया जाने लगा। अथवा ऐसा भी किया जाने लगा कि किसी संधि की जिस प्रति पर कोई राजदूत हस्ताक्षर करता वह उसे दूसरे पक्ष को देता था और दूसरे राजदूत द्वारा हस्ताक्षरित प्रति अपने पास रखता था। हाँ, यह बात अवश्य है कि समारोहों, परिषदों आदि में अब भी राजदूतों, अमात्यों आदि को इस पूर्ववर्त्तिता के नियम का ध्यान रखते हुए स्थान दिया जाता है किन्तु इसके लिए प्रत्येक देश की अपनी-अपनी प्रथा या नियम हैं और उन्हें प्रायः सब मान लेते हैं। उदाहरणार्थ फ्रांस में वहाँ के राष्ट्रपति और संसद के दोनों सदनों के अध्यक्षों के बाद के स्थान राजदूत और अमात्य प्राप्त करते हैं तो अमेरिका में राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के बाद। किंतु विभिन्न राज्यों की संप्रभुसत्ताओं के स्वयं के मध्य पूर्ववर्त्तितासम्बन्धी कोई नियम निर्धारित नहीं है इसलिए उनके तत्सम्बन्धी व्यवहार में एकरूपता भी नहीं मिलती।

इस प्रकार सन् १८५१ तक राजनय सुनिश्चित और नियमित व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

३

(क)

राजनयिक दूत और उनके भेद

राजनीतिक और समारोहविषयक (Ceremonial) दूत

सब प्रकार के राजनयिक दूतों को दो बड़े-बड़े वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—राजनीतिक और समारोह या संस्कार-विषयक।

(अ) राजनीतिक दूत वे होते हैं जिन्हें किसी दूसरे राज्य या संयुक्त राष्ट्र-संघटन में राजनीतिक संधिवार्ता आदि के लिए भेजा जाता है। इनके भी दो रूप होते हैं। एक तो वे जो स्थायी या अस्थायी रूप से किसी राज्य में उससे संधिवार्ता हेतु नियुक्त किये जाते हैं और दूसरे वे जो उनके प्रेषक राज्य की ओर से किसी सभा या सम्मेलन में प्रतिनिधित्व करते हैं। ये दूसरे प्रकार के प्रतिनिधि उस राज्य को "प्रत्ययित" नहीं किये जाते जिसके राज्य-क्षेत्र में उपर्युक्त सभा या सम्मेलन हो रहा हो और न ऐसा करने की आवश्यकता है। किन्तु फिर भी वे राजनयिक दूत हैं और राजनयिक दूतों को दिये जानेवाले समस्त विशेषाधिकार उन्हें भी प्राप्त रहते हैं जो स्वतः उनकी और प्रतिनिधि-मंडल के अन्य सदस्यों की शारीरिक रक्षा और अनतिक्रमणीयता के लिए आवश्यक हैं और उनसे सम्बन्धित हैं।

(ब) अधिकांश राज्य बहुधा एक-दूसरे के यहाँ राज्याभिषेक-समारोह, विवाहोत्सव, अंत्येष्टि-संस्कार, जयंतियाँ आदि के अवसरों पर अपने-अपने विशेष प्रतिनिधि भेजा करते हैं और ये दूत नवीन सिंहासनारोहण की सूचना देने के लिए भी भेजे जाते हैं। इन समारोहविषयक दूतों की वही स्थिति रहती है जो राजनीतिक दूतों की संधिवार्ता हेतु होती है।

अब हम राजनयिक दूतों के उन चार वर्गों में विभेद देखेंगे जो पिछले अध्याय में बताये गये हैं।

(१) राजदूत और पोपीय दूत (Ambassadors & Papal Envoys)- वर्तमान सामान्य आचार के अनुसार प्रथम श्रेणी के राजनयिक दूत को केवल राजदूत न कहकर "असाधारण तथा पूर्णशक्त राजदूत" कहते हैं।[1]

उपर्युक्त दोनों प्रथम श्रेणी के दूत हैं। केवल संयुक्त-राष्ट्रसंघटन को और उन राज्यों को जिन्हें राजकीय सम्मान (Royal Honours) प्राप्त है, राजदूत, तथा पोप को "लीगेट" और "ननशिओ" नियुक्त करने का अधिकार है। लीगेट और ननशिओ में पदस्थिति की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रहता, अन्तर केवल इतना है कि लीगेट ईसाई धर्म का एक प्रधानविशेष, जिसे "कार्डिनल" कहते हैं, होता है, किन्तु ननशिओ कार्डिनल नहीं होता। लीगेट विशेष प्रेषणों में भेजा जाता है जब कि ननशिओ साधारण स्थायी राजदूत जैसा होता है।[2] राजदूत अपने राज्याधिपति के व्यक्तिगत प्रतिनिधि माने जाते हैं, और इसलिए विशेष सम्मानों के अधिकारी होते हैं। इतरदेशीय राज्याधिपति से संधिवार्ता करने का जो विशेषाधिकार राजदूतों को प्राप्त है उसका आज के सांविधानिक शासनों के युग में अब कोई अधिक महत्त्व नहीं रहा, क्योंकि सांविधानिक शासन में समस्त महत्त्वपूर्ण राजनयिक कार्य विदेशविभाग स्वतः निबटा लेता है। राजदूत 'परमश्रेष्ठ' (Excellency) नामक उपाधि से विभूषित किये जाते हैं, जिसकी वे अधिकारपूर्ण माँग भी कर सकते हैं। यह भी कहा जाता है कि राजदूत अपने परिग्राहक राज्य के अधिपति से किसी भी समय भेंट करने की माँग कर सकता है, किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है।[3]

(२) पूर्ण-शक्तामात्य और असामान्य दूत (Minister Plenipotentiary & Envoy Extraordinary)—ये द्वितीय-वर्गीय दूत हैं। वास्तव में एक ही दूत को यह दुहरा पद दिया जाता है। ये अपने राज्याधिपति के व्यक्तिगत प्रतिनिधि नहीं माने जाते। इसलिए ऊपर बताये हुए राजदूतों को प्राप्त विशेष सम्मान और विशेषाधिकार इन्हें प्राप्त नहीं रहते। इसके अतिरिक्त

1. A Guide to Diplomatic Practice, by Satow, p. 166, para 285.
2. A Treatise on International Law—Hall; 8th Ed., 1924, Oxford.
3. A Guide to Diplomatic Practice—Satow, p. 167, para 287

इन दोनों वर्गों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। हाँ, पूर्णशक्तामात्य को परमश्रेष्ठ उपाधि का अधिकार तो नहीं है परन्तु वह उसे सौजन्यवश दी जाती है। व्यावहारिक क्षेत्र में इस वर्ग का महत्त्व नगण्य-सा हो गया है क्योंकि यह वर्ग लुप्तप्राय हो चला है।

(३) वासामात्य (Minister Resident)—इनका क्रम पूर्णशक्तामात्यों के बाद आता है और इसलिए ये उनसे कम सम्मानों के अधिकारी होते हैं। इसके अतिरिक्त कि वासामात्यों को परमश्रेष्ठ उपाधि के साथ सौजन्यस्वरूप भी सम्बोधित नहीं किया जाता, इनमें और द्वितीय-वर्गीय दूतों में कोई अन्तर नहीं रहता। ये राज्याधिपति को प्रत्ययित किये जाते हैं।

(४) कार्यदूत (Charge' d' affaires)—उपर्युक्त तीन वर्गों में वर्णित प्रतिनिधियों और कार्यदूत में केवल यह प्रमुख अन्तर है कि कार्यदूत एक देश के विदेशविभाग द्वारा ही भेजा जाता है और दूसरे देश के विदेशविभाग को प्रत्ययित किया जाता है। परिणामस्वरूप कार्यदूतों को अन्य उपर्युक्त दूतों के समान सम्मान प्राप्त नहीं होते।

यहाँ कार्यदूत और अन्तरिमकालीन कार्यदूत (Charge' d' affaires adinterim) में अन्तर जान लेना आवश्यक है क्योंकि दोनों के सम्बन्ध में बहुधा भ्रम हो जाता है। अन्तरिमकालीन कार्यदूत वह है जिसे किसी प्रणिध्यावास (Legation) का प्रमुख अपनी अनुपस्थिति या छुट्टी के काल में अपना स्थान ग्रहण करने के लिए उक्त प्रणिध्यावास के सदस्यों में से नियुक्त करता है। उसका पद, स्थान कार्यदूत से नीचे होता है, क्योंकि उसे विदेशविभाग से विदेशविभाग को प्रत्ययित नहीं किया जाता वरन् वह प्रणिध्यावास के प्रमुख का अस्थायी प्रतिनिधि मात्र रहता है।

पूर्ववर्तिता के सम्बन्ध में वियेना कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि प्रत्येक वर्ग के दूत में पूर्ववर्तिता उसके पहुँचने की तिथि की शासकीय सूचना के अनुसार होगी और असाधारण प्रेपण पर आनेवाले दूत को कोई विशेप पूर्ववर्तिता प्राप्त नहीं होगी।

(ख)

राजनयिक विशेषाधिकार[१]

राजनयिक प्रतिनिधियों के महत्त्वपूर्ण विशेपाधिकार दो प्रकार के होते हैं—

१—अनतिक्रमणीयता विपयक और

२—राज्यक्षेत्रातीत अधिकार विपयक।

(१) अनतिक्रमणीयता (Inviolability) —

प्रत्येक देश के अपने संविधान या विधि में राजनयिक प्रतिनिधियों के संरक्षण के लिए विशेष कड़े नियम रहते हैं ताकि उनकी रक्षा भली भाँति और विशेष ढंग से हो सके। यह अनतिक्रमणीयता का स्वत्व उनके परिवार, गृह, परिजन-वर्ग के सदस्यों, फरनीचर, वाहन, हरकारों और अपने देश के शासन से किये जानेवाले समस्त पत्र-व्यवहार और संदेशों तक विस्तृत रहता है। चूंकि राजनयिक प्रतिनिधि पर अन्यदेशीय दंड-विधि लागू नहीं होती इसलिए उसके विरुद्ध विदेशी शासन न तो कोई मुकदमा चला सकता है और न उसे सजा ही दे सकता है। हाँ, यदि उसके कृत्यों से देश की आन्तरिक शान्ति भंग होने का अंदेशा हो अथवा देश की सुरक्षा को संकट पहुँचता हो तो अधिक-से-अधिक उस देश की सरकार उसके प्रत्याह्वान की माँग कर सकती है या फिर स्वयं ही उसे पदच्युत कर निश्चित समय के भीतर अपना राज्य-क्षेत्र छोड़ने का आदेश दे सकती है और इस हेतु उसे पारपत्र भी दे सकती है। यह अनतिक्रमणीयता-विषयक अधिकार उसे अपने परिग्राहक राज्य में पदार्पण करने के समय से उसे छोड़ने के समय तक प्राप्त रहता है। उक्त राजनयिक दूत के षड्यन्त्रों से अत्यधिक तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न होने पर और देश की सुरक्षा को अत्यधिक अंदेशा पहुँचने पर उक्तदेशीय सरकार उसे कुछ समय के लिए बंदी भी बना सकती है और फिर सुरक्षित रूप से उसे उसके घर वापस भेज सकती

१. इस विषय पर यहाँ संक्षेप में ही प्रकाश डाला गया है और यथाशक्ति विषयांतर नहीं होने दिया गया है। इस पर विस्तृत जानकारी के लिए ओपेनहेम तथा हाल के अंतर्राष्ट्रीय विधि-सम्बन्धी ग्रंथ देखिए।

है। हिन्द-एशिया में जब कुछ वर्षों पूर्व डच-विरोधी स्वातंत्र्यसंग्राम चल रहा था तो हिन्द-एशियास्थित भारतीय राजनयिक प्रतिनिधि को औपनिवेशिक डच शासन ने वंदी वना लिया था। जब भारत सरकार ने इसका कड़ा विरोध किया तो डच शासन ने यह उत्तर दिया कि उक्त भारतीय दूत के शरीर तथा प्राण की रक्षा के लिए उसे सुरक्षित स्थान में रखने के लिए ही उसे वंदी वनाया गया था। राजदूत के स्वदेश तथा परिग्राहक देश के मध्य युद्ध छिड़ जाने पर भी उसके उक्त विशेषाधिकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) राज्यक्षेत्रातीत अधिकार (Exterritoriality)

राजनयिक प्रतिनिधियों का अधिकृत निवास-स्थान और कार्यालय तथा सचिवगण, विभिन्न सहचारीगण, राज्याभिलेखपाल, लिपिक आदि परिग्राहक राज्य के शासन या न्याय-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते। किन्तु यह अधिकार असीम नहीं है और इसका दुरुपयोग करने पर परिग्राहक राज्य चुपचाप सहन करने को वाध्य नहीं है। इसलिए राजनयिक प्रतिनिधि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस देश के शासन से अपराधियों को दण्ड देने में सहयोग करेगा। उसके विरुद्ध परिग्राहक राज्य के न्यायालयों में ऋण आदि-विषयक कोई व्यवहार-वाद (Civil suit) प्रस्तुत नहीं किया जा सकता और न उसे अथवा उसके परिवार के सदस्यों या सचिव आदि को साक्ष्य देने पर ही वाध्य किया जा सकता है। हाँ, वह स्वयं चाहे तो अपने इस विशेषाधिकार का त्याग कर न्यायालय के न्यायक्षेत्र का बंधन मान सकता है, यद्यपि इस प्रश्न पर मतभेद है कि वह उसे बिना अपने शासन से पूछे त्याग सकता है अथवा नहीं। किन्तु उसकी निजी अचल संपत्ति इस न्यायक्षेत्र से परे नहीं मानी जाती। राजनयिक दूत की निवास-स्थानविषयक अनतिक्रमणीयता उसके कार्यालयसम्बन्धी कर्मचारीवृन्द को भी प्राप्त रहती है। किन्तु उक्त अनतिक्रमणीयता का दुरुपयोग स्थानीय अपराधियों को शरण देने के लिए नहीं किया जा सकता और न किसी स्थानीय व्यक्ति को जो विदेशी राजदूतावास की सेवा में नहीं है, राजदूतावास की सीमा के भीतर उसकी इच्छा के विपरीत रोका जा सकता है। राजनीतिक अपराधियों को राजदूतावासों में राजप्रश्रय (Asylum) दिये जाने का अधिकार है अथवा

नहीं; इस पर मतभेद है। हाल के मतानुसार यूरोप में निश्चित रूप से यह मान लिया गया है कि ऐसा कोई अधिकार नहीं है[1]। किन्तु इसके विपरीत दक्षिण अमेरिका तथा अन्य देशों में अभी यह अधिकार माना जाता है और उसका प्रचलन भी है। राजनयिक दूत के निवासस्थान के भीतर वह अपने धर्मपालन के लिए तत्सम्बन्धी धर्मस्थान स्थापित कर सकता है और पुजारी आदि से पूजा आदि भी करवा सकता है। राजनयिक प्रतिनिधि परिग्राहक राज्य के द्वारा लगाये गये समस्त प्रत्यक्ष कर (Direct taxes) तथा कुछ अन्य प्रकार के कर भी देने को बाध्य नहीं होता। किन्तु सज्जनता के नाते उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वच्छता, प्रकाश आदि-विषयक कर देगा और ये कर वास्तव में दिये भी जाते हैं।

राजनयिक प्रतिनिधि को ऐसे अन्य राज्यों की सीमा के भीतर भी, जहाँ से होते हुए उसे अपने परिग्राहक राज्य या स्वदेश को जाना हो, कुछ अधिकार दिये जाते हैं, जिन्हें "निष्कपट यात्राधिकार" (Right of Innocent Passage) कहते हैं। किन्तु यदि उसके देश तथा उस राज्य के मध्य, जिसके राज्यक्षेत्र में वह हो, शत्रुता-पूर्ण सम्बन्ध चल रहे हों तो उसे यह अधिकार प्राप्त नहीं रहता और उसे शत्रु की भाँति बन्दी बनाया जा सकता है।

कुछ राजनयिक विशेषाधिकार अराजनयिक व्यक्तियों को आवश्यकतानुसार प्राप्त होते हैं। राजनयिक विशेषाधिकारों की परिभाषा और विवरण के लिए प्रत्येक राज्य को कानून बनाना पड़ता है। ऐसे अराजनयिक व्यक्तियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

१—राष्ट्रीय कर्मचारी और

२—अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्बन्धित व्यक्ति।

दूसरे वर्ग को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) संयुक्त-राष्ट्रसंघटन के कर्मचारी,

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के न्यायाधीश तथा

(ग) अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कर्मचारी।

1. A Treatise on International Law, by Hall, 8th Ed. 1924; p. 233.

(ग)

वाणिज्य-दूतों की संस्था

यद्यपि वाणिज्य-दूत राजनयिक प्रतिनिधि नहीं माने जाते क्योंकि वे केवल कार्य-विशेष तथा विषय-विशेष के लिए स्थानीय रूप से नियुक्त किये जाते हैं और उन्हें सभी राजनयिक विशेषाधिकार भी प्राप्त नहीं रहते, किन्तु फिर भी दोनों प्रकार के प्रतिनिधियों में समानता तथा निकट सम्बन्ध होने के कारण संक्षेप में उन पर भी यहाँ कुछ प्रकाश डाला गया है।

(१) उद्भव

इस संस्था का बीज-वपन मध्य युग में पश्चिमी यूरोप के देशों में हुआ जहाँ व्यापारी वर्ग अपने धन्धे-सम्बन्धी झगड़ों को निबटाने के लिए अपने में से किसी या किन्हीं को चुन लेते थे, यद्यपि व्यापारियों के संघ या श्रेणियाँ (guilds) भारतवर्ष में भी अत्यन्त प्राचीन काल से रही हैं, जैसा कि स्मृतियों के पढ़ने से विदित होता है। ये व्यापारी जब पूर्व में तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत जा बसे तो उक्त संस्था को अपने साथ ले गये, जहाँ उसने विस्तृत होकर दूसरा रूप धारण कर लिया अर्थात् वे वहाँ स्थित अपने देश के समस्त नागरिकों की सुरक्षा और न्यायक्षेत्र के अधिकारी हो गये। धीरे-धीरे कालान्तर में उनके न्याय-क्षेत्रविषयक अधिकार सम्बन्धित देशों द्वारा समाप्त कर दिये गये। इसलिए वे पुनः अपने विषय 'व्यवसाय' तक सीमित रह गये।

(२) नियुक्ति

वाणिज्य दूतों की नियुक्ति उनके राज्य के द्वारा किये गये एक विशेष नियुक्ति-पत्र के द्वारा की जाती है जिसे राजनयिक भाषा में 'लैत्रे-द् प्राविज़ां' (Lettre' de Provision)' कहते हैं। ये शब्द फ्रेंच भाषा के हैं जिनका शब्दार्थ भी 'नियुक्ति-पत्र' ही होता है। वाणिज्यिक अभिकर्ताओं (Consular agents) तथा कभी-कभी उप-वाणिज्यदूत की नियुक्ति अपने राज्य की सहमति से वाणिज्य-दूत ही करता है। जिस देश में वाणिज्य दूत नियुक्त किया जाता है वहाँ स्थित उसके देश का राजनयिक प्रतिनिधि उसके नियुक्तिपत्र को उक्त देश के परराष्ट्र-

विभागीय सचिव को दे देता है जो उस नियुक्ति-पत्र को उक्त देश के राज्याधिपति तक पहुँचा देता है। इस पर उक्त वाणिज्यदूत को नियुक्तिविषयक स्वीकृति मिल जाती है। इस स्वीकृति को 'कार्यानुमति' कहते हैं जिसके लिए राजनयिक क्षेत्र में 'एक्ज़िक्वेटर' (Excquatur) शब्द प्रयुक्त होता है। यह शब्द लैटिन भाषा का है जिसका शब्दार्थ होता है 'वह कार्य सम्पादन कर सकता ह।' यह कार्य-निर्वहन-अधिकार कभी भी छीना जा सकता है।

(३) विभिन्न वाणिज्यिक प्रतिनिधियों की स्थिति

वाणिज्यिक प्रतिनिधि चार प्रकार के होते हैं—महावाणिज्य-दूत, वाणिज्य-दूत, उप-वाणिज्य-दूत तथा वाणिज्यिक अभिकर्त्तागण। महावाणिज्य-दूत के अधीन बहुधा कई वाणिज्यिक मंडल और वाणिज्य-दूत रहते हैं। उपवाणिज्य-दूत महा-वाणिज्य-दूत या वाणिज्य-दूत का सहायक रहता है। वाणिज्यिक अभिकर्तागण महावाणिज्य-दूत और वाणिज्य-दूतों के नीचे रहते हैं और विशिष्ट स्थानों के लिए उन्हें कुछ विशिष्ट कार्य दिये जाते हैं। वाणिज्य-दूत और महावाणिज्य-दूत अपनी सरकार से सीधा पत्रव्यवहार कर सकते हैं किन्तु समस्त वाणिज्य-प्रतिनिधि अपने देश के उस राजनयिक दूत के अधीन कार्य करते हैं जो उसी राज्य को प्रत्ययित (accredited) किया गया है जहाँ कि वे स्वयं अवस्थित रहते हैं। इसलिए वे उक्त राजनयिक प्रतिनिधि के प्रत्येक आदेश और सलाह को मानने के लिए बाध्य रहते हैं।

(४) वाणिज्य-दूतों के कर्तव्य

ये कर्तव्य कुछ तो प्रथानुसार रहते हैं और कुछ ऐसे रहते हैं जो सम्बन्धित देशों के मध्य की गयी विशेष संधियों के द्वारा विरचित और स्पष्ट किये जाते हैं।

(अ) जैसा कि उनके नाम से ही प्रतीत होता है, वाणिज्यदूतों का सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह है कि वे स्वदेश के वाणिज्य-व्यवसाय के उत्थान हेतु सतत क्रिया-शील रहें। इस लक्ष्य की पूर्ति के हेतु वे समस्त वैध प्रणालियों को अपना सकते हैं। दोनों देशों के बीच की तद्विषयक संधियों का उचित निष्पादन हो रहा है या नहीं, यह देखना भी उन्हीं के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

(आ) अपने राज्य के जलयानों और उनके कर्मचारियों की समुचित सहायता, पथ-प्रदर्शन, संरक्षण आदि भी वाणिज्यदूत का कर्त्तव्य है। अपने राज्य के नागरिकों को, जो उस देश में उपस्थित हों भुखमरी में, बीमारी में, न्यायालय-सम्बन्धी कार्यों में तथा मरणोपरान्त उनकी लावारिस संपत्ति की सुरक्षा के विषय में उनकी या उनके परिवार के व्यक्तियों की सहायता करना और उनकी सुरक्षा का ध्यान रखना वाणिज्यदूतों का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। कुछ विधानविषयक कर्त्तव्य भी विशिष्ट संधियों द्वारा वाणिज्यदूतों को सौंप दिये जाते हैं। इनमें मुख्य ये हैं—उक्त देशस्थित स्वदेश के नागरिकों के जन्म, मृत्यु, विवाहादि को पञ्जी-बद्ध और प्रमाणित करना, उनके वसीयतनामों को अपने अधिकार में लेना और गोदनामों को वैधता प्रदान करना, साक्ष्य लेना आदि आदि।

(५) वाणिज्य-दूतों के विशेषाधिकार

जितने राजनयिक विशेषाधिकार राजनयिक प्रतिनिधियों को प्राप्त रहते हैं उतने या उस रूप में वाणिज्यदूतों को प्राप्त नहीं रहते क्योंकि उनका स्वरूप राजनयिक नहीं माना जाता। इसलिए उन्हें जो कुछ भी विशेषाधिकार दिये जाते हैं वे वैध अधिकार के रूप में नहीं मांगे जा सकते। केवल वे ही विशेषाधिकार या सुविधाएं उन्हें दी जाती हैं जिनका कि स्पष्ट विवरण वाणिज्यिक संधियों में दिया जाता है। कुछ सुविधाएँ और अधिकार सौजन्यस्वरूप भी उन्हें प्रदान किये जाते हैं। चूंकि उन्हें अधिकांश विशेषाधिकार विशिष्ट संधियों के द्वारा ही प्रदान किये जाते हैं इसलिए यहाँ उनका विवरण देना संभव और उचित नहीं। यहाँ केवल निश्चयात्मक ढंग से इतना ही कहा जा सकता है कि अधिकांशतः सभी देश वाणिज्यदूतों को उनके पदसम्बन्धी कार्यों के लिए अपनी व्यवहार-विधि और कभी-कभी दंड-विधि के बन्धनों से मुक्त ही रखते हैं। एक बात और ध्यान में रखने योग्य यह है कि वाणिज्यदूत केवल उसी क्षेत्र के स्थानीय अधिकारियों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं जो उनका वाणिज्य-मंडल हो, सम्बन्धित शासन से सीधा सम्पर्क स्वयं स्थापित नहीं कर सकते। ऐसा वे अपने देश के राजनयिक प्रतिनिधि के द्वारा ही कर सकते हैं क्योंकि वे उसी के अधीन रहते हैं।[१]

१. आगे अध्याय ६ भी देखिए।

४

राजनयिक सिद्धान्त का विकास

विकास का स्वरूप

राजनयिक सिद्धांत के सदियों पुराने इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होगा कि उसके विकास की प्रगति सदैव एक-सी नहीं रही है। उसमें सदैव प्रगति ही होती रही हो सो भी बात नहीं है। उसके दीर्घ जीवन-काल में ऐसे भी समय आये हैं जब कि यह प्रगति न केवल रुक गयी है वरन् उसकी गति विपरीत दिशा की ओर उन्मुख हो गयी है। किन्तु जब हम इस सुदीर्घ-कालीन इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करते हैं और उसके सम्यक् चित्र को एकबारगी दृष्टिगत करते हैं तो वह चित्र प्रगति ही प्रदर्शित करता है।

राजनयिक सिद्धान्त के विकास और प्रगति में मूलतत्त्व 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' रहा है क्योंकि स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास का राजनयिक सिद्धान्त पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। हालैंड-निवासी ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) अंतर्राष्ट्रीय विधि का पिता कहा जाता है। उसके "युद्ध और शांति की विधि के सम्बन्ध में" (De Jure Belle ac Pacis) नामक और सन् १६२५ में प्रकाशित ग्रन्थ से आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का वैज्ञानिक स्वरूप प्रारंभ हुआ, क्योंकि यह पहला ग्रन्थ था जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्यक् स्वरूप की प्रायः पूर्ण रूप से व्याख्या की गयी थी। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विशिष्ट अंगों पर रचनाएँ ग्रोशियस के पहले भी हो चुकी थीं जिनके रचयिताओं में प्रमुख लैगनैनो, बेली, ब्रनस, विटोरिया, आयला, सुआरेज, जेन्टिलिस थे। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कार्यपालन हेतु ऐसी कोई अन्तर्राष्ट्रीय कार्यपालक संस्था नहीं रही जो उक्त विधि के नियमों का पालन राष्ट्रों से करवा सकती। इस कमी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि को 'शिथिल विधि' (Weak Law) कहा जाता है। किन्तु इस कमी के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली होती गयी है,

क्योंकि विभिन्न राष्ट्र उसे स्वेच्छा से और स्वार्थवशात् मान्यता देते रहे हैं और उसका पालन भी करते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का विकास प्रायः साथ ही साथ हुआ है क्योंकि दोनों ने पारस्परिक क्रिया (ऐक्शन) के द्वारा एक-दूसरे के विकास पर प्रभाव डाला है। जैसे-जैसे विश्व के विभिन्न राज्यों में पारस्परिक सम्पर्क और व्यापार बढ़ता गया वैसे-वैसे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय विधि की जड़ें भी शक्तियुक्त होती गयीं और उन्हें आगे फैलने का अवसर भी मिलता गया। विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों के कारण ही अनिवार्य रूप से राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को अधिकाधिक मान्यता देनी पड़ी। यदि वे ऐसा न करते तो एक फैलते हुए राष्ट्र-समाज के सदस्यों के रूप में उनका जीवित रहना असंभव हो जाता।

तो पुरातन काल से आज तक राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति की रूपरेखा क्या रही है? प्राचीन काल में मनुष्य की निष्ठा अपने-अपने गिरोह तक सीमित रहती थी और इसलिए गिरोहों के पारस्परिक सम्बन्धों में गिरोहगत अर्थात् जातिगत अधिकारों की संकुचित मनोवृत्ति कार्य करती थी। तत्कालीन राजनयिक क्षेत्र में अर्थात् संधिवार्ता आदि विषयों में भी उक्त संकुचित मनोवृत्ति का ही रूप प्रदर्शित होता था। धीरे-धीरे समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के कारण और एक-दूसरे के अधिकारों की रक्षा की आवश्यकता का अनुभव होने पर उपर्युक्त जातिगत अधिकारों पर बल देने की मनोवृत्ति शनैः शनैः दूर होती गयी और उसका स्थान अन्तर्जातीय, उभय-पक्षीय अधिकारों तथा हितों की रक्षा-विषयक विशद भावना लेती गयी। चूंकि वैदेशिक नीति के क्षेत्र में उक्त विशद भावना परिलक्षित होने लगी इसलिए राजनयिक सिद्धान्त के क्षेत्र में भी उसका प्रभाव प्रकट हुआ। इस प्रकार राजनयिक सिद्धान्त की प्रगति निषेधक (Exclusive), जातिगत या वर्गगत अधिकारों की संकुचित भावना से अभिव्यापक (Inclusive) साधारण हितों की विशद भावना की ओर हुई है।[1]

1. "The progress of diplomatic theory..............conception of inclusive common interests."—Diplomacy by H. Nicolson p. 37

यूनानी काल

जिस प्रकार राजनयिक आचार के विकास में यूनानियों का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है, उसी तरह राजनयिक सिद्धान्त के विकास का भी यथेष्ट श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए। आधुनिक "कान्फ्रेन्स" अर्थात् सम्मेलन का प्रादुर्भाव भी यूनान में हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यूनानी राज्यों में आपसी समस्याओं को हल करने के लिए इस साधन का काफी प्रयोग किया जाता था। वर्त्तमान युग के 'राष्ट्र-संघ' (लीग आफ नेशन्स) और 'संयुक्त-राष्ट्रसंघटन' (यूनाइटेड नेशन्स आरगेनाइजेशन) के समान यूनानी राज्यों के भी आपस में सम्मेलन हुआ करते थे जिन्हें "ऐम्फिकट्यानिक" अर्थात् "क्षेत्रीय" सम्मेलन या परिषद कहा जाता था। यूनानी नगरराज्यों के मध्य ये सम्मेलन उनकी घनिष्ठता के कारण हुआ करते थे और इस घनिष्ठता के दो कारण थे। १—यूनानी लोग अपने को विलकुल भिन्न और संस्कृत जाति मानते थे जिसके लिए, वे 'हैलेन' शब्द का प्रयोग करते थे। ऐसी सब जातियों के लिए जिनकी संस्कृति और भाषा यूनानियों से भिन्न थी, यूनानी लोग 'बारबेरास' शब्द का प्रयोग करते थे जिससे आधुनिक अंग्रेजी भाषा का 'बारबेरियन' अर्थात् असभ्य शब्द निकला है। २—दूसरा कारण था उन नगरराज्यों में सामीप्य के कारण पारस्परिक व्यापार-व्यवसाय की प्रचुरता।

सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रीय सम्मेलन ई० पू० सातवीं शताब्दी में डेलास द्वीप में हुआ, जिसे एथेन्स राज्य ने नष्ट कर दिया। इन क्षेत्रीय सम्मेलनों का एक स्थायी सचिवालय भी हुआ करता था। इनका मुख्य कार्य था पुण्यस्थानों और कोषों की रक्षा करना, और तीर्थयात्रियों के आवागमन की विधिवत् व्यवस्था करना। वे उभयपक्षीय पारस्परिक हितों से संबन्धित राजनीतिक मामलों पर भी विचार और कार्यवाही करते थे और इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण राजनयिक कार्य करते थे।[1]

इन सम्मेलनों को कुछ ऐसे विशेषाधिकार भी प्राप्त थे जिन्हें आज की भाषा में 'राज्यक्षेत्रातीत अधिकार' (Exterritorial Rights) या 'राजनयिक

1. Ibid p. 40

विशेषाधिकार' (Diplomatic Privileges) कहा जा सकता है। जो राज्य उक्त संघ के सदस्य थे उन्होंने आपस में यह उत्तरदायित्व ले लिया कि युद्धकाल हो या शांतिकाल, एक सदस्य राज्य दूसरे सदस्य राज्य के नगर का विध्वंस नहीं करेगा और न उसके जल-पूरक साधनों में ही किसी प्रकार की रुकावट डालेगा। यदि कोई सदस्य इस शर्त को भंग करता तो वह आप ही आप अन्य सदस्य राज्यों का शत्रु मान लिया जाता था और ये अन्य राज्य उस राज्य को दंडित करने के लिए उसके विरुद्ध युद्ध घोषित कर देते थे। इन क्षेत्रीय परिषदों के द्वारा इस प्रकार से दंडित करने के अनेकों उदाहरण हैं। क्या यह क्रिया नितांत वैसी नहीं थी जिसे आधुनिक युग में 'संधिगत कारण' (Casus Foedevis) कहते हैं?

यद्यपि उक्त क्षेत्रीय परिषदें अन्त में असफल या समाप्त हो गयीं तथापि उनसे साधारण अन्तर्राष्ट्रीय हितों और अन्तर्राष्ट्रीय विधि की धारणाओं को काफी बल प्राप्त हुआ और राजनयिक सिद्धान्त के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग के विकास की नींव पड़ी। उनकी असफलता के दो प्रमुख कारण थे। १—कई प्रमुख यूनानी राज्य उनके सदस्य नहीं थे और २—उनकी संयुक्त शक्ति इतनी पर्याप्त नहीं थी कि उसके द्वारा अपने निर्णयों का पालन अधिक शक्तिशाली राज्यों से करवा सकते।[1] बिलकुल ये ही कारण 'लीग ऑफ़ नेशन्स' की असफलता के थे।

यूनानी राज्यकाल में हमें राजनयिक सिद्धान्त के एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने के एक शांतिपूर्ण साधन 'त्रिवाचन' या 'पंच-निर्णय' (Arbitration) के भी दर्शन होते हैं। यह साधन उस समय यथेष्ट रूप में प्रचलित था और तत्कालीन राजनीतिज्ञ उससे भली भाँति परिचित थे, जैसा कि राजा आर्चिडेमस के उस भाषण से प्रकट होता है जो उसने द्वितीय अध्याय में बतायी हुई स्पार्टा सभा में दिया था। यह दीर्घ और गंभीर था, जिसका सारांश इस प्रकार है—

'युद्ध से कोई लाभ या प्राप्ति नहीं होती। इसलिए हमें पहले एथेन्स राज्य को अपना एक राजदूत प्रतिषेध अर्थात् निवारणोपदेश (Remonstration)

1. Ibid p. 41

के हेतु भेजना चाहिए। यदि एथेन्स ठीक ढंग से हमारे प्रस्तावों का उत्तर देता है तो युद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता, अन्यथा दो-तीन वर्ष में हम इतनी शक्ति संचित कर लेंगे कि एथेन्स को सरलता से परास्त कर सकेंगे अथवा हमारी बढ़ी हुई शक्ति को देखकर ही एथेन्स स्वयं घुटने टेक देगा। यह हमारे राष्ट्र-सम्मान और देश के धन-जन का भी प्रश्न है। इसलिए हमें शांतिपूर्ण मनन के बाद ही किसी महत्त्वपूर्ण निर्णय पर पहुँचना चाहिए। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस संकटकालीन स्थिति के विषय में एथेन्स हमें वैध रूप से संतुष्ट करने को तैयार है। ऐसे एक देश को, जो विवाचन के लिए तैयार हो, दोषी करार देना विधि के विपरीत होगा।'

किन्तु यूनानी नगरराज्यों ने पारस्परिक सहयोग के क्षेत्र में जिस आदर्श की कल्पना की उसका वे अधिक समय तक अनुकरण न कर सके क्योंकि वे अपने को उस आदर्श के अनुरूप योग्य न बना सके। उनकी आक्रामक और हिंसात्मक भावनाओं ने उनकी शांतिपूर्ण सहयोग की भावनाओं पर विजय पा ली और मैसीडोनिया की मिट्टी ने सिकन्दर महान् को जन्म दिया जिसने संघीय या सहयोगपूर्ण मनोवृत्ति के सिंहासन पर एकछत्र महान् यूनान राष्ट्र की भावना को आसीन कर दिया। नगरराज्यों की समाप्ति हो गयी।

रोमन काल

इस काल को दो भागों में बाँट सकते हैं—

१—गणतंत्र काल, और २—साम्राज्य काल।

१—गणतंत्र काल—इस काल में राजनयिक सिद्धान्त प्रायः वही थे जो यूनानी नगरराज्यों के समय थे। वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन एक परिषद के हाथ में था जिसे सीनेट (Senate) अर्थात् 'अधिसभा' या 'शिष्ट-सभा' कहते थे और फरवरी मास में राजनयिक कार्यवाही की जाती थी।

२—साम्राज्य काल—जैसा कि द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है, रोमन लोगों ने राजनय को जो कुछ दिया वह सैद्धांतिक क्षेत्र में ही दिया, किन्तु यह देन भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित है यथार्थ राजनयिक सिद्धान्त से नहीं। श्री हेराल्ड निकल्सन का कथन है कि रोमनों ने राजनयिक सिद्धान्त

के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और समता का नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और अनुशासन का उत्कर्ष किया, छल और चापल्य का स्थान आज्ञापालन और संगठन को दिया, तथा अराजकता की जगह शांति का अभ्यास कराया।[1] किन्तु मेरी सम्मति में रोम साम्राज्य में सैनिक बल के आधार पर जिस व्यवस्था, अनुशासन, आज्ञापालन, संगठन और शांति की मनोवृत्ति की स्थापना की गयी थी उनसे राजनयिक सिद्धान्त को कोई स्थायी प्राप्ति अथवा लाभ नहीं हुआ। यदि ऐसा मान लिया जाय तो संसार का हर साम्राज्य राजनयिक सिद्धांत को आगे बढ़ाने का दावा कर सकेगा। सच बात तो इसके विपरीत ही मालूम पड़ती है अर्थात् साम्राज्यवादी मनोवृत्ति ने तत्कालीन स्वस्थ राजनयिक सिद्धांत की प्रगति को रोका ही है, उसे आगे नहीं बढ़ाया। जिस समय राष्ट्र पारस्परिक अधिकारों की रक्षा करते हुए और समता की भावना से प्रेरित होकर सहयोग को बढ़ा रहे थे, उस समय सैन्य बल पर भरोसा करनेवाली रोमन जाति ने साम्राज्य विस्तार की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर बलपूर्वक पड़ोसी और अशक्त राज्यों की स्वतंत्रता का अपहरण करके, समता के सिद्धांत को ठुकराते हुए उन्हें आत्मसात् करना प्रारंभ कर दिया। इन पड़ोसी राज्यों के साथ इस फैलते हुए साम्राज्य का व्यवहार धमकी-घुड़की का ही रहा है, समता, सहयोग या उनके अधिकारों के सम्मान का नहीं। और यह साम्राज्य-विस्तार उसी समय रुका जब कि उसकी व्यवस्था या और अधिक विस्तार सामर्थ्य से परे दिखाई देने लगा। जब यह विस्तार अपनी सीमित शक्ति के कारण रुक गया तो साम्राज्यक्षेत्र की परिधि पर स्थित राष्ट्रों को, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से, राष्ट्रसमाज का समान पद-धारी सदस्य कहा जाने लगा।

यह है राजनयिक दृष्टि से रोम साम्राज्य की कथा और इसे पढ़कर कोई भी कहेगा कि राजनयिक सिद्धांत की प्रगति को रोम साम्राज्य ने रोका ही है, अथवा पीछे हटाया है, उसे आगे नहीं बढ़ाया। भारी-भरकम रोम साम्राज्य को भरोसा अपनी शक्ति पर था और पड़ोसी राज्य उससे भयभीत ही रहे होंगे।

दूर-दूर तक फैले हुए रोम साम्राज्य की विशालता को दृष्टिपथ में रखते हुए श्री निकल्सन कहते हैं कि रोम साम्राज्य ने लोगों के मन में विश्व-राज्य की

1. Ibid p. 42, para 2

स्मृति बैठा दी होगी जिसे बाद के "पवित्र रोम साम्राज्य" (Holy Roman Empirc) और पोपीय संस्था (Papacy) ने अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयत्न किया। मेरी सम्मति में रोम साम्राज्य की विशालता और पार्थिव विस्तार मात्र से लोगों में विश्वराज्य की कल्पना नहीं जमी होगी। वास्तव में विश्वराज्य की कल्पना का उद्भव और उस कल्पना के अनुरूप मनुष्य के मानसिक क्षितिज का विस्तार, ये दोनों कार्य धर्म के —संसार के प्रत्येक महान् धर्म के—हैं। हिन्दू धर्म अनादि काल से ही "वसुधैव कुटुम्बकम्" का मंत्र पढ़ाता रहा है। बौद्ध धर्म की अहिंसा अत्यंत विशद है और उसकी अभिव्यापक भावना सबका आलिंगन करती है। ईसाई धर्म का प्रेम भी यही पाठ पढ़ाता है। हाँ, निम्नस्तरीय तामसी मनुष्य जब धर्म के ठेकेदार बन जाते हैं तो अवश्यमेव उक्त धर्मावलम्बी संकुचित और अधोगामी बन जाते हैं। अन्ततोगत्वा धर्म ही मनुष्य को विश्वराज्य की व्यावहारिक स्थिति के लिए तैयार करता है। अतः रोम साम्राज्य से विश्वराज्य की भावना को कोई स्थायी बल प्राप्त नहीं हुआ। इसके विपरीत उसके विनाश के बीज उसी में निहित थे। यदि कोरे सिद्धान्त के रूप में इसे कुछ प्राप्ति कहा भी जाय तो वह अंतर्राष्ट्रीय विधि को हुई है, क्योंकि विश्वराज्य की बात वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का ही विषय है।

रोमन नागरिकों के आपसी सम्बन्धों के लिए जो विधि (लॉ) थी, वह रोम साम्राज्य में रहनेवाले विदेशियों पर लागू नहीं होती थी। ये विदेशी व्यापार आदि के कारण रोम साम्राज्य में काफी लम्बे समय से रह रहे थे। इनके बीच इस दीर्घ काल में कई लोकाचार (Customs) पैदा हो गये थे। इन्हीं पर आधारित विधियाँ उक्त विदेशियों के पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों पर लागू होती थीं। इस विधि को रोमन लोग सार्वभौम विधि या राष्ट्रों के बीच की विधि समझते थे, यद्यपि ऐसा समझना उनकी भूल थी। इस विचारधारा के उत्प्रेरक यूनानी दार्शनिक ज़ेनो (Zeno) के अनुयायी थे जिन्हें 'स्टोइक' (Stoic) अर्थात् जितेन्द्रिय कहा जाता था। इन दार्शनिकों का प्रादुर्भाव तो यूनान में हुआ था किन्तु रोम में इन्होंने अधिक प्रभाव दिखाया। इन दार्शनिकों का कहना था कि उक्त विधि मनुष्य के विवेक से उत्पन्न हुई है और इसलिए वह 'प्राकृतिक विधि' (नैचुरल लॉ) भी है। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका

है, उनकी यह विचार-धारा भ्रमपूर्ण थी। इस 'प्राकृतिक विधि' के दो प्रमुख लक्षण थे जिन्हें रोम साम्राज्य में मान्यता दी जाती थी। प्रथम, सब मनुष्य बराबर हैं। द्वितीय, राष्ट्रों के बीच की गयी संधियाँ पवित्र होती हैं और उनका पालन करना अनिवार्य कर्त्तव्य है।

बाइजैण्टाइन साम्राज्य काल

बाइजैण्टाइन साम्राज्य चारों ओर असभ्य बर्बर जातियों से घिरा हुआ था। इनके अनवरत आक्रमणों से बचने के लिए दुर्बल बाइजैण्टाइन साम्राज्य केवल सैन्य शक्ति पर भरोसा करके नहीं रह सकता था। इसलिए इन बर्बर जातियों को आपस में लड़ाना, उन्हें प्रलोभन देना, उन्हें ईसाई धर्मानुयायी बनाना ही बाइजैण्टाइन सम्राटों के प्रमुख अस्त्र थे। इस तरह इस काल में राजनय ने अनिर्माणकारी रूप धारण कर लिया। उसमें नैतिकता और सहयोग की भावनाओं का अन्त हो गया और उनका स्थान अनैतिकता अर्थात् छल-कपट और विध्वंसक भावनाओं ने ग्रहण कर लिया। राजनय सच्चे अर्थ में कूटनीति बन गया। इस अधःपतन का प्रमुख कारण, मेरी सम्मति में, आत्मविवृद्धि (Self-aggrandizement) की मनोवृत्ति ही रही है। इसी मनोवृत्ति का विस्तृत रूप साम्राज्य-विस्तार की भावना में दीखता है।

मध्ययुग

राजनय का यह स्वरूप, जिसे कूटनीति कहना चाहिए, बाद में बेनिस और अन्य इटालियन राज्यों ने ग्रहण किया और उनसे यही रूप सामन्तशाही यूरोप ने प्राप्त किया। श्री निकल्सन के मत में आधुनिक यूरोप में राजनय जो कुख्यात है उसका कारण यही है कि आधुनिक यूरोप ने उसे बाइजैण्टाइन साम्राज्य से इटालियन नगरराज्यों के द्वारा प्राप्त किया है।

मध्य-युगीन समस्त यूरोप सामन्तवादी कहा जाना चाहिए क्योंकि इस युग में प्रत्येक सामन्त एक लघु क्षेत्र का केन्द्र-बिन्दु हुआ करता था जिसके भीतर वह सर्वशक्तिमान् होता था। प्रत्येक सामन्त के अधीनस्थ क्षेत्र के निवासियों की निष्ठा भी अपने शासक सामन्त तक ही सीमित रहती थी। इस सामन्तशाही का स्पष्ट परिणाम था निरन्तर युद्ध। धीरे-धीरे १४वीं सदी में और उसके बाद

एक नये वर्ग, मध्यमवर्ग, का प्रादुर्भाव होना प्रारंभ हुआ। इसी समय राष्ट्रवाद की भावना का भी उदय होना आरंभ होता है। सत्रहवीं सदी में जाकर यूरोप सामन्तवादी युग से राष्ट्रवादी युग में पदार्पण करता है। यद्यपि इन नवोद्भूत राष्ट्रों के ऊपर कोई सर्वशक्तिशाली सत्ता नहीं थी जिसकी आज्ञा का पालन सव राष्ट्र करते तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि उनके आपसी सम्वन्धों में अराजकता व्याप्त थी। वे कुछ सिद्धान्तों के अनुसार अपने सम्वन्धों में कुछ नियमों का पालन करते थे। इसके दो प्रमुख कारण थे। एक तो यह कि यूरोप कुछ समय पहले तक सतत युद्धों के वीच से निकल चुका था और उनसे ऊव चुका था। दूसरा यह कि राष्ट्रों के वीच बढ़ते हुए वाणिज्य-व्यापार के कारण शांतिपूर्ण सम्वन्ध-निर्वाह् अनिवार्य था।

निम्न पाँच सिद्धान्तों की रूप-रेखा १६वीं सदी में निर्मित हुई किन्तु उन्हें मान्यता सत्रहवीं सदी में ही प्राप्त हुई—

१—समस्त राष्ट्र एक परिवार के सदस्य हैं।

२—इस परिवार का संचालन एक विधि या नियम के द्वारा होता है किन्तु यह विधि इस परिवार के सदस्यों के अन्तर्गत पारस्परिक रूप से लागू होती है, न कि उनके ऊपर की सर्वशक्तिशाली सत्ता के रूप में।

३—यह विधि व्यावहारिक क्षेत्र में वास्तविक रूप में क्रियान्वित की जाती है।

४—सदस्यों के वीच के झगड़े या भेदभाव जहाँ तक संभव होता है, शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाये जाते हैं। युद्ध अंतिम सावन है।

५—राजनय उन्मुक्त अथवा स्पष्ट और प्रजातांत्रिक होना चाहिए।

हालैंड के ह्यूगो ग्रोशियस (१६ वीं सदी) प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'युद्ध और शांति की विधि के सम्वन्ध में' इन सिद्धान्तों को स्थान और मान्यता देकर सवका ध्यान इन पर केन्द्रीभूत किया।

राजनय की वर्त्तमान अपकीर्ति के कारण कहीं वाहर नहीं वरन् राजनयिक इतिहास के भीतर ही मिलेंगे। प्रमुख कारण दो हैं। प्रथम तो यह कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के राजनयज्ञ निम्नस्तरीय और घोर अनैतिक कूटनीति का प्रयोग वड़े व्यापक रूप से करते थे। अन्य देश में जाकर सभासदों को उत्कोच

देना, विद्रोह करवाना, भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करना, ऐसे ही उनके कृत्य थे। तो फिर क्या आश्चर्य यदि उस समय के राजनयिक प्रतिनिधियों को एक "सम्माननीय गुप्तचर" समझा जाता रहा हो।

एक ब्रिटिश राजदूत ने, जो जेम्स प्रथम के शासन काल में राजदूत था, यहाँ तक लिखा है कि "राजदूत वह ईमानदार मनुष्य है जो अपने देश के भले के लिए अन्य देश में झूठ बोलने के लिए भेजा जाता है।" यदि यह वाक्य मनोविनोद में ही लिखा मान लिया जाय, जैसा कि श्री निकल्सन का कथन है, तो भी तत्कालीन राजनयज्ञों की अपने व्यवसाय के विषय में अथवा जनता में तत्सम्बन्धी धारणा क्या थी यह तो स्पष्ट हो ही जाता है। किन्तु इस घोर अनैतिकता का दुष्परिणाम उनके बाद के राजनयज्ञों को भुगतना पड़ा है।

राजनय के कलंकित होने का दूसरा कारण था इटलीनिवासी निकोलो मेकियावेली का ग्रन्थ "दि प्रिंस" (राजकुमार) जो सन् १५१३ में लिखा गया। इस ग्रन्थ में कुछ ऐसी बातें 'राजकुमार' को व्यावहारिक उपदेश के रूप में लिखी गयी हैं जो अपने एक प्रकार के अनूठेपन और नवीनता के कारण शीघ्र ही यूरोप के अन्य संस्कृत देशों में आँधी की तरह फैल गयीं। धीरे-धीरे मेकियावेली के उपदेशों के साथ राजनयिक आचरण और सिद्धान्त का तादात्म्य स्थापित किया जाने लगा, यद्यपि १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही मेकियावेली और उसके उपदेश, विकृत रूप में ही सही, इंग्लैंड में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। नीचे दो उद्धरण 'राजकुमार' से संक्षेप में भावार्थ के रूप में दिये जाते हैं।

"तुम्हें यह अवश्य जान लेना चाहिए कि लड़ने की दो विधियाँ (तरीके) हैं; एक, विधि या कानून से; दूसरी, शक्ति से। पहला ढंग मनुष्यों का है दूसरा पशुओं का, किन्तु चूंकि पहला ढंग प्रायः यथेष्ट नहीं होता इसलिए दूसरा ढंग अपनाना आवश्यक हो जाता है।"

इसी पुस्तक में अन्यत्र मेकियावेली ने अपने युग के अनुभव की दुहाई देते हुए कहा है कि उन राजाओं ने बड़े-बड़े कार्य किये हैं जिन्होंने चालाकी और विश्वासघात के सहारे दूसरों को भ्रमित कर दिया है। "इसलिए किसी दूरदर्शी शासक को कभी ऐसे वचनों का पालन नहीं करना चाहिए जिन्हें निभाने से उसके हितों की हानि होती हो, विशेषकर उस समय जब कि वचन-बद्ध होने के कारण

समाप्त हो चुके हों। यदि सब मनुष्य अच्छे होते तो यह शिक्षा अच्छी न होती, किन्तु चूंकि वे वुरे हैं और विश्वास निभाने को तैयार नहीं इसलिए तुम भी विश्वास पालन के लिए वाध्य नहीं हो।"

स्पष्टतः ये कठोर व्यावहारिक राजनीति की शिक्षाएँ हैं और इनकी व्यावहारिकता के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मैकियावेली की ऐसी शिक्षाएँ किसी भी प्रकार से नैतिकता की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं। मैकियावेली के पक्ष में केवल एक वात कही जा सकती है कि उसने अपने समय के अनुसार कठोर वास्तविकता का पाठ तत्कालीन शासकों को पढ़ाया है। आज की परिस्थितियों की दृष्टि से उसकी शिक्षाओं को तौलना उसके प्रति अन्याय होगा। उसने तो तत्कालीन और उससे पूर्व की सदियों की विकट अराजकता और भयावह राजनीतिक तूफान को देखते हुए उस समय के शासकों को अपने राज्य-पोत को सुरक्षित रूप से खेते रहने के लिए उपाय मात्र वताये हैं। और उसके समय के अनुसार वे उपाय उचित हैं।

मैकियावेली और उसके सिद्धांतों से यथेष्ट मिलता-जुलता स्वरूप हमें भारतीय राजनीतिक जगत में—चाणक्य और चाणक्यनीति में—भी दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार के सिद्धांतों को पश्चिम में "मैक्यावेलियन" या "मैक्यावेलिज्म" शव्दों से सम्वोधित किया जाता है उसी प्रकार के सिद्धांतों के लिए भारतवर्ष में साधारण मनुष्य "चाणक्यनीति" शव्द प्रयुक्त करता है। स्मरण रहे कि चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का समसामयिक और राजनीतिक गुरु था तथा उसने चन्द्रगुप्त को अपने उपदेशों और पथ-प्रदर्शन के द्वारा सिंहासनारूढ़ करके भारत का महान् शक्तिशाली सम्राट वनाया था। क्या आश्चर्य कि मैकियावेली चाणक्य की रचनाओं से परिचित रहा हो और उन्हीं की रचनाओं का प्रभाव उसकी विचारधारा पर पड़ा हो, क्योंकि मैकियावेली चाणक्य के वहुत वाद हुआ है। विस्तारभय और विपयांतर-भय के कारण इस विपय को यहीं समाप्त कर देना उचित होगा। यह एक स्वतंत्र और रोचक खोज का विपय है।

वर्त्तमान काल

जिस समय यूरोप मध्य युग से वर्त्तमान युग में पदार्पण करने की तैयारी

कर रहा था, उस समय अनेक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ उसकी नवीन रूपरेखा पर प्रभाव डाल रही थीं और ये परिस्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राजनय के पट पर सतरंगे चित्र तैयार कर रही थीं। ये परिस्थितियाँ कौन-सी थीं ? यूरोप सामन्तवाद को छोड़कर राष्ट्रवाद को अपना रहा था। लोग छोटे सामन्तवादी क्षेत्रों के प्रति निष्ठावान् न रहकर पूरे राष्ट्र के प्रति निष्ठावान् होने लगे थे। किन्तु क्या सामन्तवादी मनोवृत्ति समाप्त हो गयी ? नहीं। उसने सैनिक भावना से उत्प्रेरित राष्ट्रों के उग्र राष्ट्रवाद में अपना रूप प्रकट किया। स्वतंत्र राष्ट्रों के जन्म का परिणाम यह नहीं हुआ कि उन सबके ऊपर कोई शक्ति न रहने से उनके पारस्परिक सम्बन्धों में स्वच्छंदता और अराजकता आ गयी हो। इसके विपरीत हुआ यह कि समस्त मध्ययुग के इतिहास से शिक्षा लेकर धीरे-धीरे प्रत्येक देश दूसरे देश के अधिकारों की रक्षा करते हुए या उन्हें मान्यता देते हुए शांतिपूर्वक रहने का प्रयास करने लगा। इसका अर्थ यह नहीं कि लोलुप और सामरिक मनोवृत्तिवाले राष्ट्रों ने दूसरों को हड़पने की भावना को त्याग दिया हो। यह तो चलता ही रहा क्योंकि स्वराष्ट्र या स्वदेश की भावना ही प्रबल बनी रही। फिर भी पारस्परिक सम्बन्धों के संचालन हेतु कुछ ऐसे नियम अधिकाधिक मान्य होते गये जिनके बिना उनका जीवित रहना संभव नहीं था। इन अंतर्राष्ट्रीय नियमों के पुष्टीकरण में मनुष्यसमाज के निजी नीति-सिद्धांत का बड़ा भारी हाथ था जो शनैः शनैः राज्य-समाज के क्षेत्र में भी प्रविष्ट होता जा रहा था। उधर यूरोपीय राज्य अपनी आंतरिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण, यूरोप के बाहर हाथ पैर फैलाने की चेष्टा करने लगे थे। नये-नये देशों की खोज और वाणिज्य-व्यापार का प्रसार नये रूप में तथा अधिकांशतः इसी कारण प्रारंभ हुआ। कोलम्बस द्वारा नयी दुनिया की खोज, वास्को-डि-गामा का १४९७ ई० में भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर पहुँचना, केनरी द्वीपों का १३३० में पता लगना तथा कुछ ऐसी ही अन्य खोजों का तात्कालिक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा जो भविष्य के लिए क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। यह बात नहीं कि कोलम्बस या वास्को-डि-गामा की खोजें विश्व या यूरोपीय देशों के लिए सर्वथा नवीन थीं किन्तु थीं वे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण। नये-नये देशों की खोज के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय

वाणिज्य-व्यापार भी बढ़ निकला। इस व्यापार की वृद्धि में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मान्यता-प्राप्त नियमों का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि इस अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य-व्यापार की आवश्यकता का अनुभव होने के कारण राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधिकाधिक नियमों को मान्यता देना प्रारंभ कर दिया और इस भाँति ये नियम स्थिरीकृत हुए।

वर्तमान युग के प्रारंभ से ही राजनयिक सिद्धांत में दो प्रमुख धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं, नीतिवादी और राष्ट्रवादी। किन्तु यह सीमा-विभाजन एकदम स्पष्ट नहीं है—राष्ट्रवादी धारा में नैतिकता का प्रभाव मिलेगा तो नीतिवादी धारा में राष्ट्रीयता की झलक भी दिखाई देगी।

नीतिवादी सिद्धांत

इसके माननेवालों का कथन है कि मनुष्यसमाज के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में जिस नैतिकता का ध्यान रखना पड़ता है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी उक्त नैतिकता को अधिकाधिक स्थान दिया जाता रहा है। इसी कारण से राजनयिक सिद्धांत को बल प्राप्त हुआ है और उसकी प्रगति होती रही है। इस मत के समर्थक इंग्लैंड में अधिक हैं। स्वयं श्री हेराल्ड निकल्सन अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि अन्ततोगत्वा नैतिकतावादी अर्थात् सदसद् विचारवाला राजनय ही स्थायी रूप से प्रभावशाली और लाभदायक सिद्ध होता है और अनैतिक राजनय स्वयं अपने उद्देश्यों के लिए हननकारी बन जाता है।[1] किन्तु वे इस विचारधारा को एकांगी महत्त्व भी देने को तैयार नहीं हैं।

व्यावहारिक क्षेत्र में इस सिद्धांत को जो मानते हैं उनके लक्ष्यप्राप्ति के साधन भी कुछ ऐसे ही रहते हैं। वे शांतिपूर्ण उपायों, जैसे तुष्टीकरण, अनुनय, समझौता आदि, का आश्रय लेते हैं। उनका प्रमुख लक्ष्य राष्ट्र-हित और राष्ट्रीय वाणिज्य की वृद्धि ही रहता है और इस प्रमुख लक्ष्य की पूर्ति में वे राष्ट्र-गौरव के मिथ्याभिमान को बाधक नहीं बनने देते। राष्ट्र-गौरव की उनकी भावना दूसरे प्रकार की होती है। वह है राष्ट्रीय सचाई। वे खुली चर्चा, सत्य व्यवहार और विवेक के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान करते हैं और इस प्रकार मध्य-

1. Diplomacy—H. Nicolson, p. 49

वर्त्तीय समझौते पर पहुँचते हैं। इसे साधनों की दृष्टि से वणिक्-नीति कह सकते हैं। श्री निकल्सन ने इसे दूकानदार-सिद्धांत कहा है। इसी को श्री डब्लू० एन० मेडलीकाट ने चैम्बर्स एनसाइक्लोपीडिया में 'अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के प्रति उदार दृष्टिकोण' (Liberal approach) कहा है।

राष्ट्रवादी राजनय

इस विचारधारा के अनुयायी अधिकांशतः यूरोपीय महाद्वीप में हैं। उनका चरम लक्ष्य है स्वदेश पक्ष की प्रत्येक क्षेत्र में, प्रत्येक प्रश्न पर पुष्टि, भले ही उनका देश और शासन ठीक मार्ग पर न हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब-जब इस भावना ने अंध-विश्वास का रूप धारण किया है तब-तब युद्ध या तनाव की परिस्थितियाँ पैदा होती रही हैं। किन्तु यह भी सच है कि राष्ट्रवाद की भावना बड़ी प्रबल और आकर्षक भावना है जिसका जन-साधारण पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है और जो जनता में बलिदान, अनुशासन आदि सद्गुणों का प्रस्फुरण करती है। इस सिद्धांत के अनुयायियों के लिए स्वदेशहितों की रक्षा ही चरम नैतिक सिद्धांत है। उनके अनुसार मनुष्य-समाज के नैतिकता के सिद्धांत राज्यों के सम्बन्ध-संचालन पर लागू करना कोरी भावुकता है।

यूरोप में व्यावहारिक क्षेत्र में उग्र राष्ट्रवाद को अपनानेवाला जो समाज है वह सामन्तवादी युग का अवशिष्ट सैनिक और राजनीतिक वर्ग है जो अपनी सामन्तवादी मनोवृत्ति के कारण 'शक्ति-राजनीति' (Power Politics, बलाधारित राजनीति) का अनुयायी तथा पोषक रहा है। वे अपने उद्देश्यों—राष्ट्र-गौरव, प्रतिष्ठा, अग्रत्व, दाम्भिक वैभव आदि—की प्राप्ति के लिए साधन और प्रणाली भी सैनिक दृष्टि-कोण से चुनते हैं। संधिवार्ता को वे सैनिक अभियान समझते हैं और इसलिए उनमें सफलीभूत होने के लिए वे यौद्धिक व्यूह-रचना करते हैं। संधिवार्ता में उनका एकमेव लक्ष्य दूसरे पक्ष पर पूर्ण विजय प्राप्त करना रहता है क्योंकि समझौते की नीति को वे दुर्बलता मानते हैं। इसलिए संधिवार्ताओं में वे हर प्रकार के हथकंडों को अपनाते हैं, चूँकि वे राजनय को भी युद्धक्षेत्र मानते हैं इसलिए वे संधिवार्ताओं में भी जो कुछ करते हैं उस पर सामरिक कौशल—जैसे आक्रमण करना, कपटपूर्वक पीछे हटना, दबाव डालना,

घुड़की देना, वलप्रयोग, नृशंसता आदि—का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। इन साधनों पर दृष्टि रखते हुए ही इस सिद्धांत को श्री निकल्सन ने "योद्धा-सिद्धांत" कहा है।

पर संसार के राजनयिक और राजनीतिक इतिहास का अनुशीलन करने से हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। स्वयं मनुष्य की नैतिकता की भावनाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों में धीरे-धीरे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रभावित किया और राष्ट्र-समाज में अराजकता के स्थान पर धीरे-धीरे जो व्यवस्था और शांति आती गयी है उसका कारण भी यही नैतिकता की भावना है। वास्तव में संसार में सदा से व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित मनोवृत्ति और विश्व-बंधुत्व की विशद मनोवृत्ति में संघर्ष चलता आ रहा है। और आज जव हम ध्यान से देखते हैं तो विदित होता है कि किस प्रकार विश्वराज्य की कल्पना के समीप मनुष्य पहुँचता जा रहा है। यह व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना पहले छोटे-छोटे समूहों तक सीमित थी। फिर वह कुछ विकसित होकर सामन्तवादी क्षेत्रों में केन्द्रीभूत हुई और फिर खींच-तानकर वह राष्ट्रीय वृत्त में संकुचित होकर रह गयी। मनुष्य की यह संकुचित मनोवृत्ति रवर की भाँति, वरावर सिकुड़ने की चेष्टा करती रहती है और उसे फैलाने के लिए वल-प्रयोग और शिक्षा-कौशल दोनों का सतत प्रयोग करना पड़ता है। विश्व की वदलती हुई परिस्थितियाँ (वैज्ञानिक और आर्थिक दोनों) और उनसे उत्पन्न नैतिकता के सिद्धांत ही यह कौशल है। इसी के वल पर व्यक्तिगत स्वार्थ की मनोवृत्ति को विस्तृत कर एक राष्ट्रवाद की अथवा कई राष्ट्रों के सम्मिलित क्षेत्र की सीमाओं को परिव्याप्त करनेवाली वनाया जा सकता है। आज जो संघर्ष चल रहा है वह राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावनाओं के मध्य चल रहा है। यह संघर्ष की अंतिम सीढ़ी है। विजयी कौन होता है, यह भविष्य के गर्भ में है। अभी तो विज्ञान का विध्वंसकारी प्रयोग ही विश्व-राज्य की प्राप्ति के मार्ग में रोड़ा वन रहा है।

यह ठीक है कि यह नैतिकता आर्थिक, सामाजिक या व्यापारिक परिस्थितियों की अनिवार्यता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रविष्ट हुई है, किन्तु यह भी सत्य है कि इसका वड़ा ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव राजनयिक प्रगति पर पड़ा है। और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि देशों के पारस्परिक सम्वन्धों

का निर्वाह, निरूपण और संचालन भी तो मनुष्य ही करते रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि मनुष्य अपने समाज के चित्र का आरोपण राष्ट्रसमाज के विशाल पट पर करता रहा हो तो क्या वह सर्वथा स्वाभाविक नहीं था ?

राजनयिक सिद्धांत के उपर्युक्त इतिहास को देखकर हमें एक तथ्य का और सामना करना पड़ता है। वह यह कि इस सुदीर्घ काल में ऐसा कई बार हुआ है कि राजनय की प्रगति परम सत्तावान्-शक्ति के समर्थन के समय ही अधिक हुई है। ऐसा इसलिए होता रहा है कि जब "अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग" की कहावत चरितार्थ हो रही होती है उस समय अराजकता को रोकने के लिए एक सर्वशक्तिमान् सत्ता की आवश्यकता पड़ती ही है और इसकी पूर्ति प्रकृति और परिस्थितियाँ अपने आप कर देती हैं। इसकी आवश्यकता उस समय और अधिक पड़ती रही है जब कि राष्ट्रों में यह भावना नहीं रही या नगण्य रूप में रही है कि वे एक राष्ट्र-समाज के सदस्य हैं और अपने जीवन के लिए उन्हें अपने ही स्वार्थ की नहीं वरन् दूसरों के स्वार्थ की रक्षा भी उत्तरदायी ढंग से करनी चाहिए। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शक्ति के समर्थन के अभाव में राजनय की प्रगति रुक गयी हो। उसके न रुकने के कारण थे—अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य-व्यवसाय का फैलाव, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता का अधिकाधिक प्रभाव और अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अधिकाधिक मान्यता का प्राप्त होना।

इस प्रकार राजनय पर प्रमुख निर्माणकारी प्रभाव, धर्म तथा वाणिज्य एवं सामान्य ज्ञान दोनों का पड़ा है, यद्यपि श्री निकल्सन का मत यह है कि धर्म का नहीं वरन् सामान्य ज्ञान का प्रभाव निर्माणकारी रहा है।[1]

1. Ibid, p. 50

५

राजनय के विभिन्न रूप

प्रत्येक देश के राजनयज्ञों के सम्मुख सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य अपने देश की भलाई अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके लक्ष्य की पूर्ति करना रहता है। अतएव यह नियम तो अवश्यमेव ही प्रत्येक राष्ट्र के राजनयिक आचार और सिद्धांत की आधारशिला का कार्य करता है। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनय का उपयोग अपने-अपने ढंग से करता है। इसलिए स्वाभाविक है कि प्रत्येक देश के राजनय पर उसकी प्रकृति और चरित्र, उसकी परम्परा और परिस्थितियाँ तथा उसकी शासन-प्रणाली अपना-अपना प्रभाव डालें। इन्हीं विभिन्न प्रभावों के कारण राजनय के भी कुछ विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। इस अध्याय में हम शासन-प्रणाली के अनुसार प्रकट होनेवाले राजनय के रूपों पर विचार करेंगे और अगले दो अध्यायों में परम्परा आदि के आधार पर पाश्चात्य और प्राच्य राजनय पर प्रकाश डाला जायगा। वैसे पिछले अध्यायों में भी इस विषय पर बहुत कुछ बातें कही जा चुकी हैं।

परमैकराजाधिपत्य और अधिनायकत्व

वर्त्तमान सांविधानिक एकराजाधिपत्य (Constitutional Monarchy) और प्रजातंत्रात्मक शासनों के पहले यूरोप तथा एशिया के सब देशों में परमैक-राजाधिपत्य (Absolute Monarchy, निरंकुश राजतंत्र) की ही शासन-प्रणाली थी। आजकल तो संसार से सांविधानिक एकराजाधिपत्य भी समाप्त-प्राय हो रहा है। हाँ, पिछड़े हुए देशों में सैनिक अधिनायकत्व अवश्य जीवित है। यह अधिनायकत्व अथवा डिक्टेटरशिप कई प्रकार से परमैकराजाधिपत्य से मिलती-जुलती है।

परमैकराजाधिपत्य के अन्तर्गत समस्त देश और देश-वासी देश के सम्राट की निजी सम्पत्ति समझे जाते थे। शासन के हर मामले में उसी की इच्छा सर्वो-

परि रहती थी। इसलिए वैदेशिक नीति और राजनय दोनों का संचालन भी पूर्णतया सम्राट के ही हाथ में रहता था। फ्रांस का सम्राट लुई चौदहवाँ, रूस की साम्राज्ञी कैथरीन और भारतवर्ष के मुगल सम्राट परमैकराजाधिपतियों के अच्छे उदाहरण हैं। इस शासन-प्रणाली में स्पष्टतया देश के परराष्ट्रीय सम्बन्धों पर शासकों के व्यक्तित्व की ही एकमात्र छाप रहती थी। इसलिए एसे देशों को भेजा जानेवाला राजदूत वहाँ के अधिपति का विश्वासपात्र, स्नेह-भाजन या कृपा-पात्र बनने का ही अथक प्रयत्न किया करता था। यही नहीं, तत्कालीन राजदूतों को स्वदेशहित के लिए विशेष कृत्य और कुकृत्य भी करने पड़ते थे। अग्रत्व (Precedence) के लिए झगड़ना, राजकीय लेख्यों को चुरा लेना, एक-राजाधिपति की कृपा-प्राप्ति के लिए उसके स्नेह-पात्र या अन्य सभासदों को घूस आदि देना, किसी प्रभावशाली विपक्षी सभासद अथवा स्वयं सम्राट को ही सिंहासन से हटवा देने या उसकी हत्या करवा देने के लिए षड्यंत्र रचना तथा षड्यंत्रकारियों को आर्थिक सहायता देना और अपने पक्ष के व्यक्ति को सिंहासन पर बैठाना—ये सब कार्य राजदूत बिना हिचक के करते थे। भारतीय शासकों से अंग्रेजों के सम्बन्धों का लम्बा इतिहास तथा मुगलकालीन इतिहास इस प्रकार की राजदूतीय कार्यवाहियों से भरा पड़ा है।

इस प्रकार के राजनय को 'बूद्वा राजनय' (Boudoir Diplomacy) अर्थात् 'महिला-कक्ष-राजनय' कहते हैं। 'बूद्वा' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है "सम्भ्रांत महिला का निजी कक्ष।" इस प्रकार 'बूद्वा-राजनय' से अभिप्राय उस राजनय से है जिसकी सभी चालें सम्राज्ञी के निजी कक्ष में चली जाती थीं तथा राजदूत एवं सम्राज्ञी के मध्य समस्त संधिवार्ता व निर्णय भी उसी कक्ष में होते थे और इस कक्ष तक सभी राजदूतों की पहुँच हो सकना सरल नहीं था। इस प्रकार के राजनय के दृष्टांत-स्वरूप रूस और हालैण्ड में १८वीं सदी में इंग्लैण्ड के राजदूत सर जेम्स हेरिस (लार्ड माम्सबरी) की आप-बीती कथा, जो प्रसिद्ध है, देखी जा सकती है। सर हेरिस अपने समय का सबसे कुशल राजनयज्ञ था। वह रूस की सम्राज्ञी कैथेरिन से यह चाहता था कि रूस फ्रांस और स्पेन के विरुद्ध इंग्लैण्ड को सैनिक सहायता दे या कम-से-कम शक्ति प्रदर्शन मात्र ही करे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने सब प्रकार

के यत्न किये, यहाँ तक कि अपनी गाँठ से २०००० पौंड खर्च किये। और अपने सुन्दर व्यक्तित्व से लाभ उठाने के लिए अपने से अत्यधिक अवस्थावाली सम्राज्ञी कैथेरिन से विवाह सम्बन्ध तक स्थापित करने का संकेत किया। किन्तु अन्त में बेचारे को मिला क्या ? पूर्ण असफलता।

भारतवर्ष में भी शक्तिशाली सम्राटों से अपना काम निकालने के लिए अंग्रेज संदेशवाहक अनुनय और विनय की शरण लेते थे। अंग्रेजों ने भारतीय शासकों की दो बातों से विशेष लाभ उठाया। एक तो भारतीय परम्परानुसार सम्राटों की क्षमाशीलता, और दूसरे, पाश्चात्य राजनयिक हथकंडों से उनकी अनभिज्ञता। परिणामस्वरूप अंग्रेज संदेशवाहक और अन्य प्रतिनिधि छल-कपट, झूठ, विश्वासघात और षड्यंत्रों का प्रयोग निर्द्वन्द्व होकर करते थे और जब शासकों की शक्ति क्षीण होने लगी तो धमकियों से भी काम लेने लगे। परन्तु यह मुगल-कालीन राजनयिक इतिहास का विषय है जिसे इस छोटी-सी पुस्तक में देना विषयांतर ही होगा। वास्तव में यह एक अलग ग्रन्थ का विषय है।

जहाँ व्यक्तिगत अधिनायकत्व की शासन-प्रणाली है वहाँ भी वैदेशिक नीति और राजनय व्यावहारिक रूप से स्वयं डिक्टेटर अर्थात् अधिनायक के हाथ में रहते हैं। इसलिए राजनय परमैकराजाधिपत्य की भाँति यहाँ भी व्यक्तिगत, गुप्त और रहस्यमय रहता है। यूरोप के दो बड़े अधिनायक, हिटलर और मुसोलिनी, तो समाप्त हो गये, केवल स्पेन में फ्रैंको की अधिनायकता बच रही है। एशिया तथा दक्षिण अमेरिका में भी कुछ अधिनायकत्व शेष हैं। सोवियत रूस और लाल चीन के अधिनायकत्व अभी तक प्रचलित व्यक्ति पर आधारित अधिनायकत्व से भिन्न हैं।

सांविधानिक एकराजाधिपत्य

इस शासन-प्रणाली में राजा तो नाम मात्र के लिए रहता है और उसके अधिकार एक संविधान के द्वारा एक कार्यकारिणी एवं संसद् को दे दिये जाते हैं। यह प्रणाली पश्चिम में सर्वप्रथम इंग्लैंड में प्रारंभ हुई और अब भी चली जा रही है। किन्तु इस प्रणाली के अनुसार शासन होने पर भी जनता का उसके पुराने संस्कारों से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद करना सरल नहीं था इसलिए सन

१९१८ तक यही समझा जाता रहा कि राजनय विशिष्ट रूप से राजा की निजी वस्तु है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये नाममात्र के शासक विदेशी सम्बन्धों में असांविधानिक कार्यवाहियाँ भी कर सकते थे। हाँ, उनके मंत्रियों के द्वारा उन्हें काफी ढील अवश्य दे दी जाती थी। इस ढंग से राजनय के क्षेत्र में लाभ की संभावना दो कारणों से रहती थी। एक, विभिन्न राजघरानों से पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्ध होना और इस तरह एक-दूसरे के अधिक समीप आना। इंग्लैंड के राजघराने का यूरोप के अधिकांश राजघरानों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। दूसरे, सभी एकराजाधिपति एक विलुप्त होती हुई संस्था के अवशेष थे, इसलिए स्वभावतः एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते थे और परस्पर अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न करते थे।

जर्मनी के एकराजाधिपति विलियम द्वितीय और रूस के जार ने सन् १९०५ में आपस में जो एक संमैत्री गुप्त रूप से फिनलैंड में सम्पन्न कर ली थी उसका कारण यह था कि ये दोनों एक दूर के सम्बन्ध से भाई-भाई लगते थे और इसी सम्बन्ध की भावुकता ने अपना कार्य कर दिखाया। इंग्लैंड के एडवर्ड सप्तम और महारानी विक्टोरिया ने भी अपने समय में इंग्लैंड की वैदेशिक नीति और राजनय पर अपनी ही छाप लगा रखी थी। महारानी विक्टोरिया तो अपने सम्बन्धी यूरोपीय राजघरानेवालों को बारंबार पत्र लिखा करती थीं और इस प्रकार पत्र-व्यवहार के द्वारा राजनयिक कार्य किया करती थीं। श्री निकल्सन के मत में विक्टोरिया के द्वारा जर्मन-सम्राज्ञी और अलैक्जेंडर द्वितीय को लिखे गये उपदेशपूर्ण पत्रों के कारण ही बिस्मार्क ने सन् १८७५ में फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषित नहीं किया।[1] वास्तविकता जो कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्धों के यथेष्ट स्थायी व प्रभावकारी परिणाम होते रहे हैं। यूरोप के विभिन्न ईसाई देशों का इतिहास इसका साक्षी है।

आधुनिक राजनय (१९वीं सदी)

वर्तमान प्रजातांत्रिक शासन-प्रणालियों के उद्भव के साथ-साथ कुछ नवीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक और व्यापारिक परिस्थितियों ने भी राजनयिक

1. Ibid, pp. 66-67

आचार और सिद्धांत दोनों को प्रभावित करना शुरू किया। प्रजातांत्रिक राजनय पर विचार आगे इसी पुस्तक में किया गया है। यहाँ उपर्युक्त परिस्थितियों की संक्षिप्त रूप-रेखा दी गयी है।

(क) **राष्ट्र-समाज की भावना**—यूरोप में प्रथम फ्रांसीसी क्रांति और नैपोलियन वोनापार्ट की महत्त्वाकांक्षाओं ने यूरोप की अन्य शक्तियों तथा इंग्लैंड को आपस में संगठित होने की प्रेरणा और अवसर दिया। फ्रांस के विरुद्ध इसी अस्थायी सहयोग ने कालांतर में एक स्थायी-जैसा रूप ग्रहण कर लिया और वह 'कन्सर्ट ऑफ़ यूरोप' (Concert of Europe) अर्थात् यूरोप-संविधा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि सन् १८१५ के बाद में चलकर यह संगठन बड़ी शक्तियों की प्रतिक्रियावादी महत्त्वाकांक्षाओं का सावन वन गया, फिर भी उसने राष्ट्र-समाज की बढ़ती हुई भावना को वल प्रदान किया, जिससे वड़ी शक्तियों के पारस्परिक सम्वन्धों में आत्म-गौरव, मानवता और पारस्परिक विश्वास के कुछ सामान्य नियमों को मान्यता दी जाने लगी। सन् १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध ने इस संविधा की समाप्ति कर दी।

(ख) **जनमत**—जन-जागर्ति के साथ अनिवार्यतः जनमत ने देश की स्वदेशी और वैदेशिक नीति को प्रभावित करना प्रारंभ किया। राजनय भी जनमत के वृत्त में घिरने लगा। आस्ट्रिया का प्रसिद्ध नीतिज्ञ या राजनेता (स्टेट्स मैन) मैटरनिक और अन्य अप्रजातांत्रिक देश भी लोकमत के आधार पर विदेशी नीति का संचालन करना अत्यंत संकटास्पद समझते थे। किन्तु इंग्लैण्ड के नीतिज्ञ कैनिंग तथा पामर्सटन जनमत को बड़ा महत्त्व देते थे। पामर्सटन के शब्दों में "जनमत सेनाओं से भी अधिक शक्तिशाली होता है।" जनमत को अत्यधिक महत्त्व इसलिए दिया जाने लगा कि यदि संधिवार्ता में उपस्थित कोई पक्ष अपने देश की जनता का पूर्ण और वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करता तो उस पक्ष के आश्वासनों आदि का कोई मूल्य नहीं रह जाता। इसलिए इसके पूर्व कि किसी संधिवार्ता का कोई निश्चित और स्थायी परिणाम निकल सके, दोनों पक्षों की नींव, लोकमत के पूर्ण प्रतिनिधित्व की दृष्टि से, पक्की होनी चाहिए। अमेरिका के प्रेसीडेण्ट विलसन ने सन् १९१९ की पेरिस-संधिवार्ताओं में जो भाग लिया था वह पूर्ण प्रतिनिधि की स्थिति से नहीं था। इसी लिए राष्ट्र-संघ (लीग आफ

नेशन्स) के जिस प्रतिज्ञा-पत्र की पुष्टि तथा जिन संधियों पर हस्ताक्षर प्रेसीडेण्ट विलसन ने अमेरिका के प्रतिनिधि के रूप में किये थे उन्हें अमेरिकन कांग्रेस अर्थात् वहाँ की संसद ने मान्यता नहीं दी। परिणामस्वरूप 'लीग ऑफ़ नेशन्स' से अमेरिका जैसा महत्त्वपूर्ण बड़ा राज्य बाहर ही रहा और लीग का अन्त भी शीघ्र ही हो गया एवं द्वितीय विश्वयुद्ध का बीज-वपन हुआ।

(ग) **आवागमन के नवीन साधन**—रेल, वायुयान, तार और टेलीफोन जैसे द्रुतगामी सञ्चार के साधनों के आविष्कार का भी वैदेशिक नीति और व्यावहारिक राजनय पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। पहले सुदूर देश भेजे जाने-वाले राजदूत को स्वदेश-हित के लिए मार्ग-प्रदर्शन के रूप में ही कुछ सलाह दी जाती थी। उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर उसे समस्त कार्यसंचालन अपनी बुद्धि से ही करना पड़ता था। किन्तु आज के द्रुतगामी साधनों ने तो राजनयिक कार्य-संचालन का काया-पलट ही कर डाला है। कोई भी राजदूत किसी भी समय, हजारों मील दूर रहकर भी स्वदेश से सम्बन्ध स्थापित कर परामर्श या पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर सकता है। इसलिए आजकल व्यक्तिगत उत्तरदायित्व और व्यक्तिगत प्रयत्नों की पहले-जैसी आवश्यकता राजदूत के लिए नहीं रही। इसका यह अर्थ नहीं कि राजदूत के व्यक्तित्व का कोई महत्त्व नहीं रहा या वह महत्त्व बिलकुल कम हो गया है। फिर भी अनुभव, चरित्र, स्वभाव, सूझ, सत्यता आदि गुणों का अब भी उतना ही महत्त्व है।

आधुनिक राजनय (सन् १९१४-१९ के बाद)

सन् १८१५ से १९१९ ई० तक का १०० वर्षों का युग अति श्रेष्ठ राजनय का युग था जिसने तैलेरां (Talleyrand), शेतुब्रियां (Chatubriand), मैटरनिक (Matternich), कावूर (Cavour), बिस्मार्क (Bismark), कैनिंग (Canning), क्लेरेंडन, (Clerendon), पामर्सटन् (Palmerston) और सैलिसबरी (Salisbury) जैसे महान् नीतिज्ञों (Statesmen) को जन्म दिया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राजनय के स्वरूप में बहुत परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के कारण और सहायक तत्त्व ये तीन थे—

१—रूस की महान् क्रांति, जिसके निर्माता और अग्रणी लेनिन तथा उसके साथियों ने रूसी राज्याभिलेखागारों के गुप्त अभिलेख प्रकाशित करके राजनयिक संधि-चर्चा के गुप्त एवं विश्वासी स्वरूप की जड़ें ही काट दीं और इस प्रकार नये राजनय का सूत्रपात किया। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न देशों द्वारा ज़ारशाही रूस के साथ की गयी अनेक गुप्त और संकटयुक्त संधियों का उक्त देशों की जनता के समक्ष रहस्योद्‌घाटन हो गया। स्वभावतः भविष्य में गुप्त संधियाँ करने की नीति के प्रति विभिन्न देशों के शासन तथा उनकी जनता चौकन्नी रहने लगी। सोवियत रूस ने अफगानिस्तान और ईरान जैसे छोटे-छोटे देशों से भी, जिन्हें राष्ट्र-समाज के सम्माननीय सदस्य न माने जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सुविधाओं का अधिकारी नहीं समझा जाता था, समानता के स्तर पर राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये।

२—संयुक्त-राज्य अमेरिका का एक विश्वशक्ति के रूप में अवतरण और लैटिन अमेरिकी राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण। इससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्रविन्दु यूरोप से हटने लगा।

३—एशियाई स्वतंत्रता के युग का आगमन जिसका स्पष्ट प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में परिलक्षित होने लगा। एशियाई देशों में से केवल जापान ने सन् १९०४ में रूस को परास्त करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक महती शक्ति के रूप में अपना आसन जमा लिया था। किन्तु १९१९ की वारसाई की संधि (Treaty of versailles) के पहले जापान को छोड़कर समस्त एशिया यूरोपीय देशों, संयुक्त-राज्य अमेरिका तथा जापान के अपने-अपने स्वार्थों की पारस्परिक मुठभेड़ का क्षेत्र था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में एशियाई देशों की स्वतः की न तो कोई स्थिति मानी जाती थी और न उनकी आवाज की ही कोई कीमत थी। वर्लिन-बगदाद रेल के लिए झगड़ा, १९वीं सदी में चीन का इतिहास, फैशोडा घटना आदि अनेक उदाहरण इसके दिये जा सकते हैं। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के वाद परिस्थिति विलकुल वदल गयी। नवीन राष्ट्रवादी चीन अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभाव डालने के प्रयास कर रहा था और अफगानिस्तान, ईरान तथा स्याम राष्ट्र-संघ (लीग आफ नेशन्स) के सदस्य वन गये थे। १९१८ में मध्य-पूर्व (पश्चिम एशिया) एक स्वतंत्र

राजनीतिक क्षेत्र बन गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् तो दक्षिण-पूर्वी एशिया के अधिकांश औपनिवेशिक देशों, विशेषकर भारतवर्ष का स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में अवतरण, और चीन में साम्यवादी क्रांति की अपूर्व सफलता, इन दो कटु सत्यों ने समस्त एशिया का राजनीतिक चित्र ही बदल डाला।

"आरनाल्ड टायनबी ने दर्शाया है कि १९१९ के पूर्व केवल १६ छोटे राज्य गंभीरतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेते थे और उनमें से १५ यूरोपीय देश थे। १९१९ के बाद यह संख्या बढ़कर ४७ हो गयी जिनमें से केवल २२ यूरोपीय थे।

१९४९ में यह संख्या और भी बढ़कर केवल संयुक्त-राष्ट्र-संघटन में ही ६० हो गयी है। और यह बढ़ती प्रमुखतः एशिया से ही हुई है। भारत, पाकिस्तान, हिन्देशिया, यमन, लेबनान, सीरिया उक्त संघटन के नये सदस्य हैं।"[1]

इन सबका परिणाम यह हुआ कि एशिया तथा मध्यपूर्व अर्थात् पश्चिमी एशिया के देश यूरोपीय देशों अथवा अमेरिका के राजनयिक दाँव-पैंचों के अखाड़े मात्र या उनके हाथ में निष्क्रिय खिलौने मात्र नहीं रहे। राजनय अब यूरोपीय सर्वाधिकार की वस्तु नहीं रह गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में उपर्युक्त उथल-पुथल के परिणाम-स्वरूप, विशेषकर रूसी क्रांति की सफलता के कारण, शक्तिसंतुलन (Balance of Power) की स्थिति का अन्त हो गया। हिटलर तथा उसके सहयोगी राष्ट्रों के पराभव के पश्चात् तो यह असंतुलन इतना अधिक हो गया कि दुनिया दो सैद्धांतिक दलों में बँट गयी है। सुदूर-पूर्व (पूर्वी एशिया) के क्षितिज पर लाल चीन के उदय से तो वह सारा राजनयिक ढाँचा भरभराकर ढह गया है जिसे पाश्चात्य देशों ने सुदूर-पूर्व (पूर्व एशिया) में पिछले १०० वर्षों में खड़ा किया था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक विषैला वातावरण पैदा हो गया है और वह इसलिए कि यूरोप तथा अमेरिका न तो नवीन चीन के कटु सत्य को देखने को तैयार हैं और न उसके स्थायित्व को मानने के लिए तत्पर। इसके दो मनोवैज्ञानिक कारण हैं। एक, अब उनके स्वार्थों की पूर्ति नवीन चीन में नितांत संभव

1. 'The Principles and Practice of Diplomacy' by K. M. Panikkar ; p. 76

नहीं। दूसरे, श्वेत वर्णवालों में अपने को दूसरी जातियों से श्रेष्ठ समझने की दूषित मनोवृत्ति का बना रहना।

उपर्युक्त दो शिविरों में से प्रत्येक दो प्रकार की राजनयिक प्रणालियों का प्रयोग करता है। प्रथम प्रणाली अपने शिविर के अन्तर्गत प्रयुक्त होती है और द्वितीय विरोधी शिविर के साथ प्रयोग में लायी जाती है। विश्व के दो गुटों में बँट जाने तथा दो प्रकार की राजनयिक प्रणालियों के प्रयोग का सीधा परिणाम क्या हुआ है? पहले अन्तर्राष्ट्रीय राजनय बड़ी तनावपूर्ण परिस्थितियों में भी मुस्कराहट से परिपूर्ण रहता था। आज उक्त दो दलों के मध्य उसने शाश्वत वक्र-भ्रकुटि धारण कर रखी है। इसका कारण यह है कि १९ वीं सदी का राजनय यूरोप-संविधा (Concert of Europc) की विचारधारा के अनुरूप था। चूँकि आज यूरोपीय संविधा के अनुरूप भावना मिट गयी है अतएव उस समय का राजनय आज की बदली हुई परिस्थिति में काम नहीं दे सकता। आज के लिए तो एक नयी राजनयिक प्रणाली का उद्विकास (Evolution) होना चाहिए।[1]

परन्तु १९ वीं सदी के राजनय में अनेक ऐसे गुण थे जिनका सर्वथा त्याग करके कोई भी राजनयिक प्रणाली अपने उद्देश्य, स्वराष्ट्र-हित-प्राप्ति, तक नहीं पहुँच सकेगी और न उससे संधिवार्ता द्वारा शांतिपूर्ण स्थिति का निर्माण या स्थिरीकरण ही किया जा सकता है। इसलिए यदि आज की द्विदलीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनुरूप राजनय में कुछ असुन्दर, अशोभनीय तत्व प्रविष्ट हो चुके हों तो उन्हें स्थायी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि या तो विश्व में दो शिविर न रहकर एक ही रह जायगा या यदि दो शिविर बने रहे तो उन्हें परस्पर सहयोग तथा शांति से रहना पड़ेगा। इसे आज सभी कम्यूनिस्ट देश भी अनुभव करने लगे हैं। सोवियत रूस के तत्कालीन विदेश-मंत्री श्री मोलोटोव (Molotov) ने जापान के एक समाचारपत्र, 'शुबूनिप्पो शुंबुंग' के प्रधान सम्पादक मित्सुआउ सुंजुकी के प्रश्नों के उत्तर में कहा था कि सोवियत रूस की नीति भिन्न-भिन्न समाज-व्यवस्थाओंवाले राज्यों के सह-अस्तित्व (Co-

1. I bid, p. 14

existence) के सिद्धांत की मान्यता पर आधारित है।[1] रूस के प्रधानमंत्रियों—बुल्गानिन और ख्रुश्चेव तथा लाल चीन के राष्ट्रपति माओ त्से तुंग के वक्तव्यों में भी इसी भावना की अभिव्यक्ति कई बार की गयी है।

किसी भी दशा में आज प्रचार, संधिवार्ता आदि का जो स्वरूप राजनयिक क्षेत्र में प्रकट हो रहा है उसे या तो त्याग देना पड़ेगा या फिर संशोधित रूप में अपनाना होगा। इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस ने अपनी स्वतंत्रता के प्रथम चरण में, संभवतः नये उत्साह के कारण, अपने राजदूतावासों का भार शिशिक्षु या नौसिखिया राजनयज्ञों (Amateur diplomatists) के कंधों पर रखना उचित समझा। पेशेवर राजनयज्ञों (Professional diplomats) के अनुभव का महत्त्व उन्होंने नहीं समझा। सोवियत रूस ने तो राजनयिक प्रतिनिधियों की परम्परागत श्रेणियों का त्यागकर अपने समस्त दूतों की एक ही श्रेणी 'पूर्ण-शक्त-प्रतिनिधि' नामक बना दी, जैसा कि पहले कह चुके हैं। जब उसके 'पूर्णशक्त-प्रतिनिधियों' को अन्य देशों में राजदूतों को दिये जानेवाले राजनयिक विशेषाधिकार प्राप्त न हुए तो उसे अपनी भूल का अनुभव हुआ। इसी प्रकार जब अमेरिका के अनुभवहीन दूतों ने अपनी अदूरदर्शिता के द्वारा देश को विषम परिस्थितियों में डालना शुरू कर दिया तो अमेरिका को भी अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। श्री हेरल्ड निकल्सन ने भी ठीक ही कहा है—"यह सदैव उचित होगा कि किसी देश की वैदेशिक नीति को पेशेवर राजनयज्ञ ही, जो अपने व्यवसाय में प्रशिक्षित (Trained) हो चुके हों, कार्य रूप में परिणत करें। नौसिखिया (Amateur) राजनयज्ञों के (जैसा कि संयुक्त-राज्य और सोवियत रूस अनुभव करने लगे हैं) अविश्वसनीय सिद्ध होने की संभावना रहती है।"[2]

प्रचार तथा प्रकाशन (Propaganda & Publicity)—नवीन राजनय को वर्त्तमान स्वरूप देनेवाले तत्त्वों में दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण निर्माणकारी तत्त्व प्रचार तथा प्रकाशन भी हैं। साथ ही ये इस राजनय के प्रमुख अंग भी हैं।

1. Moscow news, Sep. 12, published in the A. B. Patrika on Wednesday, Sep. 15, 1954.

2. Diplomacy—H. Nicolson, p. 76

स्वदेश में जनमत को तैयार करने के लिए संसदीय भाषणों और सम्पादकीय लेखों का समाचारपत्रों में उपयोग करने का प्रथम श्रेय कैनिंग को है परन्तु स्वदेश तथा अन्य देशों में जनमत को बहकाने की कला में बिस्मार्क अद्वितीय था।[1] इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा। जर्मनी में फ्रांसीसी राजदूत बेनेडिथ ने सन् १८६६ में बिस्मार्क से इस आशय का वार्तालाप किया कि वह फ्रांस के साथ बेलजियम को अनुबंधित (Annex) कर लेने दे। इस वार्तालाप के आधार पर बेनेडिथ ने एक स्मृतिपत्र (Aide-memoire) तैयार किया जिसे बिस्मार्क ने रख लिया। जब १५ जुलाई सन् १८७० को फ्रांस ने जर्मनी से युद्ध घोषित कर दिया तो तुरन्त बिस्मार्क ने उसे इंग्लैण्ड के टाइम्स पत्र में प्रकाशित करवा दिया और स्वयं बेलजियम की अखंडता की रक्षा के लिए ब्रिटेन से आश्वासन-संधि करने की इच्छा भी प्रकट कर दी। इस प्रकार उसने सहज ही ब्रिटिश जनमत को फ्रांस के विपरीत तथा अपने पक्ष में कर लिया।[2]

कैनिंग, पामर्सटन और बिस्मार्क जिस जनमत को प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे वह उन्हीं लोगों तक सीमित था जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में रुचि रखते थे। किन्तु सन् १९१८ में राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) के निर्माण के समय संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसीडेन्ट वुडरो विलसन ने जो १४ प्रस्ताव (14 Points) तैयार किये थे वे समस्त संसार के जनमत को लक्ष्य करके लिखे गये थे। उनका प्रमुख सिद्धांत था—"अगूढ़ रूप से प्राप्त की हुई अगूढ़ प्रसंविदाएँ" —जिसने प्रत्येक स्थान में जनता का उत्साह-वर्द्धन किया। इसके विषय में विस्तार से अगले अध्याय में लिखा गया है।

वर्त्तमान काल में राजनय का जो एक और स्वरूप चल पड़ा है उसका प्रारंभ तो तब हुआ जब सोवियत रूस की क्रांतिकारी बोलशेविक सरकार और जर्मनी के बीच ब्रेस्ट-लिटौस्क (Brest-Litovsk) में ९ फरवरी सन् १९१८ को एक संधि हुई जिसके द्वारा रूस प्रथम विश्वयुद्ध से अलग हो गया। उक्त संधिवार्ता में बोलशेविक शासन की ओर से ट्राटस्की भी एक प्रतिनिधि था। उसने विजेता देशों अथवा अन्य किसी देश के शासनों से अपील नहीं की वरन्

1. The Principles and Practice of Diplomacy—K. M. Panikkar p.15
2. Diplomatic History—1713 to 1933, Charles Petrie, p. 193

उनकी ओर ध्यान न देते हुए संसार भर के श्रमिक वर्ग का आह्वान किया और इस ढंग से शत्रुओं पर जनमत का दबाव डालने की चेष्टा की। इस प्रकार ट्राटस्की ने सर्वप्रथम प्रचार का उपयोग संधिवार्ता की प्रणाली के रूप में किया। यद्यपि वह अपने उद्देश्य में अत्यधिक सफल नहीं हुआ किन्तु उसने जिस पद्धति का प्रारंभ किया था उसे आज कई देशों ने अपना लिया है। ये सभी कम्यूनिस्ट देश नहीं हैं। अमेरिका भी प्रजातंत्र और स्वतंत्र राष्ट्रों के नाम पर इसी प्रणाली को उपयोग में लाता है।

विदेशों में स्वपक्ष की पुष्टि के लिए प्रचार करने की नीति बहुत पुरानी है। अन्तर केवल इतना है कि पहले इस प्रचार का स्वरूप और लक्ष्य दूसरे थे अर्थात् वे धर्म पर आधारित थे। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि उन दिनों यूरोप की राजनीति धार्मिक आचार्यों के प्रभावाधीन थी। वैसे कोई भी सरकार जो अपने को सत्य पर आधारित होने का दावा करती है, स्वभावतः ही अन्य स्थानों में प्रचार करने के लिए बाध्य होती है। जब इस्लाम और ईसाई धर्म अपनी राजनीतिक शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर थे उस समय उनके आचार्य अपने विरोधी के प्रति इसी नीति का अनुसरण करते थे।

इंग्लैण्ड के राजाओं ने हेनरी अष्टम के समय से सर्वप्रथम रोमन चर्च का विरोध किया और एंगिलकन चर्च नामक स्वतंत्र चर्च की स्थापना कर डाली थी। परिणामस्वरूप उनके, विशेषकर रानी ऐलिजावेथ के, विरुद्ध रोम के कैथलिक चर्च ने इसी नीति का अवलम्बन किया था। क्रूसेडर्स का सारा इतिहास इसी पर आधारित था। समय और परिस्थितियों के अनुसार इस प्रचार का स्वरूप भी बदल गया है। आज जो बात नयी है वह है प्रचार की प्रणाली। राष्ट्रव्यापी समाचारपत्रों का प्रचलन, आकाशवाणी के द्वारा भाषणों का प्रसारण, टेली-विजन, सिनेमा और अन्य ऐसे ही साधनों ने प्रचार के क्षेत्र और उसकी पहुँच को अत्यंत व्यापक बना दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की परिधि भी आज इसलिए विस्तृत हो गयी है कि कम्यूनिस्टों के साथ-साथ अब अन्य देशों के प्रचार का लक्ष्य भी संसार भर की जनता की ओर रहता है।

प्रचार के विभिन्न रूप विस्तार से अगले अध्याय में दिये गये हैं।

आधुनिक राजनय का स्वरूप

१९वीं सदी से आज तक विश्व की राजनीति जिस ओर उन्मुख हुई है और आज जिस निश्चित ठिकाने पर पहुँच चुकी है उसे एक शब्द में प्रजातंत्र कह सकते हैं। आज तो प्रत्येक क्षेत्र में प्रजातंत्र का युग है। सर्वत्र निश्चयात्मक रूप से प्रजातांत्रिक शक्तियाँ प्रबल होती जा रही हैं। ये शक्तियाँ, जैसा कि पिछले अध्याय के प्रारंभ में कहा जा चुका है, राजनयिक क्षेत्र पर भी अपना पूरा-पूरा प्रभाव डाल रही हैं। इन प्रभावकारी परिस्थितियों, कारणों अथवा तत्त्वों पर तथा उनके परिणामों पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। अब हम आधुनिक राजनय के स्वरूप का विवेचन करेंगे।

प्रजातंत्रात्मक शासन जनता के बहुमत द्वारा चुना हुआ शासन होता है। इन चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा को विभिन्न देशों में विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। किन्तु सबसे पुराना और प्रचलित नाम 'पार्लमेन्ट' है। भारतवर्ष में उसे संसद कहते हैं। जहाँ इस प्रकार की शासनप्रणाली है वहाँ की जनता ही उपर्युक्त प्रकार से अपने चुने हुए प्रतिनिधियों, मंत्रिमंडल और विदेश-मंत्री के द्वारा राजनयिक प्रतिनिधियों की सच्ची स्वामिनी है। अंतिम रूप में ये राजनयज्ञ जनता के समक्ष ही उत्तरदायी हैं यद्यपि वास्तव में नित्य-प्रति के शासन-संचालन का कार्य गिने-चुने व्यक्ति ही करते हैं। इस प्रकार का जनतंत्रात्मक राजनय प्रथम विश्व-युद्ध के पहले से ही यूरोपीय देशों में कतिपय विद्यमान था। परन्तु ये जनतंत्रात्मक शासन भी अनेक गुप्त एवं महत्त्वपूर्ण संधियों से अपनी जनता को अनभिज्ञ रखते थे—ऐसी संधियाँ जिनके द्वारा अनजाने में ही पूरे देश की जनता को किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध के लिए पहले से ही वचन-बद्ध कर दिया जाता था। उदाहरणार्थ जर्मनी, इटली और आस्ट्रिया के मध्य जो 'त्रिपक्षीय संमैत्री' (Triple Alliance) हुई थी वह ऐसी ही थी। आखिर प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभिक काल में तथा उसके दरम्यान

सभी को निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट ज्ञात हो गया कि गुप्त संधियाँ शांति के लिए संकट हैं क्योंकि उक्त विनाशकारी युद्ध ऐसी ही संधियों का परिणाम और चरम-बिन्दु था। इसलिए जब विभिन्न देशों की जनता को एकाएक यह सत्य विदित हुआ तो उसने भविष्य के लिए संधियों की समस्त प्रच्छन्नता समाप्त करने की ठान ली। वास्तव में उद्देश्य सबका यही था कि विदेशी नीति जनता से किसी प्रकार गुप्त या अस्पष्ट न रखी जाय परन्तु अज्ञानवश और सम्यक् राजनय के जनतंत्रीकरण की झोंक में जनता 'वैदेशिक नीति' और 'संधिवार्ता' में भेद न कर सकी। परिणामस्वरूप एक हवा यह चल पड़ी कि न केवल संधियाँ ही प्रकट रखी जायँ बल्कि संधिवार्ता तथा संधि तक पहुँचने की प्रणाली भी अगूढ़ ही रहनी चाहिए।[1] इसलिए जब "खुले राजनय" के मसीहा राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (सं० रा० अमेरिका) ने ८ जनवरी सन् १९१८ को अपने सुप्रसिद्ध "चौदह प्रस्ताव" (Fourteen Points) प्रकाशित करवाये तो सर्वत्र जन-साधारण में उनका बड़ा स्वागत हुआ। इन चौदह प्रस्तावों में सर्वप्रमुख का उद्देश्य था—"प्रकट रूप से प्राप्त की हुई प्रकट शांति-प्रसंविदाएँ" (Open covenants of peace openly arrived at)।

सिद्धांत रूप में तो यह बिलकुल ठीक है, किन्तु व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से यह संभव नहीं कि संधिवार्ता भी प्रकट रूप से की जाय। इसके एक उदाहरण के रूप में यही कह देना पर्याप्त होगा कि स्वयं विल्सन महोदय इसका कार्य रूप में निर्वाह न कर सके। वार्साई-संधि की संधिवार्ताओं (Negotiations) के समय विल्सन महोदय ने अपने अध्ययन कक्ष में इंग्लैंड के लायड जार्ज और फ्रांस के क्लीमेंशू के सिवा अन्य किसी को नहीं आने दिया। जर्मनी और उसके सहयोगी राष्ट्र, अन्य छोटे देशों के प्रतिनिधि, पत्र-प्रतिनिधि, यहाँ तक कि स्वयं अमेरिकी प्रतिनिधि-मंडल के सदस्य भी वहाँ नहीं पहुँच सके। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि "खुली संधियों" और "खुले तौर से प्राप्त की हुई"—नीति और संधिवार्ता—में आकाश-पाताल का अन्तर है।[2]

1. "But the public misconceived.........................and negotiation which was not." Diplomacy, P. 82, Nicolson
2. "to foresee policy and negotiation" Ibid, p. 84

राजनय के जनतंत्रीकरण के लिए जो अभियान चल पड़ा था उसके कम-से-कम दो अच्छे परिणाम निकले। एक तो यह कि राष्ट्र-संघ (लीग आफ़ नेशन्स) की प्रसंविदा (Covenant) में निम्नलिखित (१८ वीं) धारा को स्थान दिया गया।

"भविष्य में संघ के किसी भी सदस्य द्वारा की गयी किसी भी संधि या अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिश्रुति को तुरंत संघ-मंत्रालय में पंजीवद्ध करवाना चाहिए और मंत्रालय उसे शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित कर देगा। यदि वह इस तरह पंजी-वद्ध नहीं होगी तो कोई भी उससे वाध्य नहीं रहेगा।"

इस धारा का महत्त्व इसी से विदित हो जायगा कि जुलाई सन् १९४४ तक इसके अन्तर्गत ४८२२ "संधियाँ या अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिश्रुतियाँ" पंजीवद्ध की गयीं। किन्तु चूँकि संसार के अनेक देश, जिनमें कई महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ भी थीं, राष्ट्रसंघ (लीग आफ़ नेशन्स) के सदस्य नहीं वने इसलिए इन देशों की जनता उक्त धारा के प्रावधान से कोई लाभ न उठा सकी। संतोष की वात यही है कि उक्त धारा में कुछ परिवर्तन करके उसे वर्त्तमान संयुक्त-राष्ट्र-संगठन (यूनाइटेड नेशन्स आरगनाइजेशन) के शास (Charter) की धारा १२ में अपना लिया गया है और संयुक्त-राष्ट्र-संघटन राष्ट्र-संघ से अत्यधिक व्यापक संस्था है। धारा १०२ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ये दो वातें आ गयी हैं—

प्रथम, 'तुरन्त' के स्थान पर 'जितना शीघ्र संभव हो उतनी शीघ्रता से।'

द्वितीय, अपंजीकृत संधि का संयुक्त-राष्ट्र-संघटन के किसी उपांग के सम्मुख आह्वान (Invoked) नहीं किया जा सकता।

"इस प्रकार यह प्रतीति कार्यरूप में परिणत हो गयी है कि गुप्त संधियाँ जो जनता पर ऐसे उत्तरदायित्व लाद देती हैं जिनका उसे कुछ पता नहीं रहता, जनतंत्र के सिद्धांतों एवं विश्वशांति की आवश्यकताओं की एक समान विरोधी हैं।"[1]

द्वितीय शुभ परिणाम यह हुआ कि जनतंत्रात्मक देशों में संधियों की प्रस्थापना के सिद्धांत तथा व्यवहार दोनों में निश्चित परिवर्तन हो गया। पहले यदि

1. International Law, Part I, p. 828, para 516G, L. Oppenheim

किसी देश का राजदूत जिसे पूर्णाधिकार रहते थे, स्वदेश की ओर से कोई संधि या अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिश्रुति कर लेता था तो उस देश की अधीश्वरी सत्ता उसे अवश्य मान लेती थी, क्योंकि उसे ठुकराना वचन भंग के सदृश अपराध एवं घोर अनैतिकता समझी जाती थी थे। आज परिस्थिति यह है कि किसी भी जन-तंत्रात्मक शासन के द्वारा की गयी संधि का अनुसमर्थन (Ratification) अंतिम रूप से वहाँ की संसद ही कर सकती है। इस विषय के अंतिम अधिकार ग्रेट ब्रिटेन की पार्लमेण्ट को वहाँ के प्रथम श्रमिक शासन ने सौंप दिये थे। भारतवर्ष के संविधान ने भी संसद को संधि अनुसमर्थन के अंतिम अधिकार दे दिये हैं।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में तो प्रथम विश्वयुद्ध के पहले से ही वहाँ की सीनेट को ये अधिकार प्राप्त हैं।[2] इसी लिए जब स्वयं राष्ट्रपति विलसन के द्वारा हस्ताक्षरित वारसाई संधि सीनेट को उचित न जँची तो उसका उसने अनु-समर्थन करने से इनकार कर दिया। सोवियत रूस के भी लिपिवद्ध संविधान के अनुसार संधि का अनुसमर्थन अन्त में जनता के द्वारा चुनी हुई संसद (सुप्रीम सोवियत) के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। इसके लिए उक्त संविधान के निम्नलिखित पद देखे जा सकते हैं —

६८ डी, ७८, ६५, ४९ ओ तथा ४८।[3]

जनतांत्रिक राजनय के दोष

जनतांत्रिक राजनय में कुछ दोष भी हैं जिनका दूर होना आवश्यक है, जिन्हें उनकी दुर्बलताएँ कहा जा सकता है। इन पर सिद्धांत और आचार की दृष्टि से विचार किया जायगा।

(क) **जनतांत्रिक राजनयिक सिद्धांत की त्रुटियाँ**—(१) यद्यपि सभी जनतांत्रिक देशों में जनता ही संप्रभुसत्ता होती है किन्तु जनता में अभी तक

1. Indian Constitution, Art. 253 and Schedule VII, List I- 10 & 14

2. Constitution of the U. S. A., Sec. 2, Art. II

3. 'Constitution (Fundamental Law) of the Union of Soviet Socialist Republics'—Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1950.

अपनी परमसत्ता के अनुरूप उत्तरदायित्व नहीं आ पाया है। परमैकराजतंत्र के समय में एकराजाधिपतियों को बहुधा व्यक्तिगत साख और आत्मसम्मान की रक्षा का स्वतः ध्यान रहता था जिससे वे उत्तरदायित्व भी निभाते थे। इसके विपरीत आज जनतंत्रात्मक प्रणाली में अनेकानेक मतदातागण वैदेशिक नीति का नियंत्रण करते हैं और इसी संख्या-बाहुल्य के कारण उनमें उक्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना कार्य नहीं कर पाती। इसका प्रमुख कारण अनभिज्ञता है जिससे उन्हें अपनी संप्रभुसत्ता का भी सम्यक् ज्ञान नहीं है। इस अनभिज्ञता का लाभ समाचारपत्र उठाते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

(२) "वैदेशिक मामलों-विषयक अज्ञान" ही दूसरी त्रुटि है। साधारण मतदाता अपने देश की संधियों आदि से बहुत अनभिज्ञ रहते हैं जिसके तीन प्रमुख कारण हैं—आलस्य, विस्मृति और वैदेशिक मामलों पर घरेलू मामलों के समान गंभीर तथा आलोचनात्मक विचार न करना। इसी लिए जनता को अपने देश की ऐसी संधियों और अन्य अंतर्राष्ट्रीय प्रतिश्रुतियों का भी पता नहीं रहता जिन्हें स्वयं उनकी संसद, खुले रूप से उन पर काफी दिनों तक विचार करके, प्रस्थापित कर चुकी होती है। अन्य प्रजातांत्रिक देशों की बात तो दूर रही ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश में, जहाँ की जनता प्रजातांत्रिक रीति-नीति में अत्यधिक परिपक्व हो चुकी है, वैदेशिक सम्बन्धों के विषय में काफी अज्ञान ग्रस्त है। स्वयं श्री निकलसन का कथन है—"ग्रेट ब्रिटेन में भी साधारण स्त्री-पुरुष अभी तक यह अनुभव नहीं कर पाया है कि वैदेशिक मामले वैदेशिक ही मामले हैं अर्थात् वे अपने राष्ट्रीय स्वार्थों से ही नहीं वरन् अन्य देशों के स्वार्थों से भी सम्बन्धित रहते हैं।"[1]

इस राजनीतिक अपरिपक्वता का परिणाम यह भी होता है कि किसी देश के निवासियों से किंचित् सम्पर्क हो जाने पर उनके सम्बन्ध अथवा उस देश की नीति के सम्बन्ध में अपनी भावनाओं के अनुकूल धारणा बना ली जाती है। ऐसा बहुधा तब होता है जब कि कोई व्यक्ति भ्रमणार्थ अथवा अन्य किसी कार्य से कुछ दिनों के लिए विदेश-यात्रा करता है और इन स्वल्प दिनों में किसी-न-किसी

1. Diplomacy—p. 93, H. Nicolson

वेसिर-पैर के शीघ्र-निर्णय पर पहुँच जाता है तथा स्वदेश लौटकर वैसा ही प्रचार करने लगता है। इसके सबसे सुन्दर उदाहरण देखने हैं तो कुछ भारत-वासियों के वे वक्तव्य पढ़िए जो उन्होंने लाल चीन और सोवियत रूस के अल्प-कालीन और सीमित भ्रमण के पश्चात् धड़ाधड़ दे डाले हैं। इस प्रकार की पूर्व-निर्धारित सम्मतियों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को ठेस पहुँचती है।

(३) "विलंब" तृतीय दोष है। प्रत्येक शासन के सम्मुख समय-समय पर ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिन पर शीघ्र निर्णय होना चाहिए, अन्यथा अनर्थ होने की संभावना रहती है। ऐसा शीघ्र निश्चय शासन से सम्बन्धित प्रवीण व्यक्तियों द्वारा तो संभव है किन्तु संसद अथवा लोकसभा को इतना समय लग सकता है कि उक्त निर्णय निरर्थक या उक्त विलम्ब अनर्थकारी हो जाय। सन् १९१४ में जर्मनी से युद्ध-विषयक क्षतिपूर्ति (Reparations) ग्रहण करने, न करने के विषय में किसी निर्णय पर पहुँचने में ब्रिटिश लोक-सभा तथा जनमत को १८ मास और फ्रांसीसी जनमत को पाँच साल लगे। परिणामस्वरूप समस्त जर्मन मध्यम वर्ग का ऐसा उच्छेद हुआ कि नात्सीवाद ने अपना पूर्णाधिपत्य जर्मन जनता के मस्तिष्क पर कर लिया, हिटलर उसका अधिनायक बन बैठा और संसार को द्वितीय विश्व युद्ध की घोर पीड़ा भुगतनी पड़ी।

जनतंत्र में संधि के अनुसमर्थन की वर्तमान प्रणाली के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विलम्ब होता है। इससे संधिवार्ता शीघ्र और सुचारु रूप से नहीं चल पाती।

(४) "अनिश्चित"—प्रजातांत्रिक शासन प्रायः अपनी नीति को गोल-मटोल अथवा अस्पष्ट ही रखते हैं। यह त्रुटि संसार के सभी जनतंत्रों में नहीं है। और जिनमें है उन सबमें एक-बराबर भी नहीं है। प्रजातांत्रिक देशों के विदेश-मंत्री या प्रधान मंत्री या राजनयज्ञ किसी परिस्थिति के भावनात्मक, नाटकीय या नैतिक पक्ष पर अधिक जोर देते हैं और व्यावहारिक पक्ष को छिपाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रयास में कभी-कभी इतनी धूर्तता करनी पड़ती है कि राष्ट्रीय स्वार्थों की रक्षा करते समय भी उसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत की पुष्टि के रूप में प्रकट किया जाता है और ऐसा ही प्रचार किया जाता है।

(५) जनतंत्र और राजनयिक आचार—जनतांत्रिक नियंत्रण के कारण

अपनी परमसत्ता के अनुरूप उत्तरदायित्व नहीं आ पाया है। परमैकराजतंत्र के समय में एकराजाधिपतियों को बहुधा व्यक्तिगत साख और आत्मसम्मान की रक्षा का स्वतः ध्यान रहता था जिससे वे उत्तरदायित्व भी निभाते थे। इसके विपरीत आज जनतंत्रात्मक प्रणाली में अनेकानेक मतदातागण वैदेशिक नीति का नियंत्रण करते हैं और इसी संख्या-बाहुल्य के कारण उनमें उक्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना कार्य नहीं कर पाती। इसका प्रमुख कारण अनभिज्ञता है जिससे उन्हें अपनी संप्रभुसत्ता का भी सम्यक् ज्ञान नहीं है। इस अनभिज्ञता का लाभ समाचारपत्र उठाते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

(२) "वैदेशिक मामलों-विषयक अज्ञान" ही दूसरी त्रुटि है। साधारण मतदाता अपने देश की संधियों आदि से बहुत अनभिज्ञ रहते हैं जिसके तीन प्रमुख कारण हैं—आलस्य, विस्मृति और वैदेशिक मामलों पर घरेलू मामलों के समान गंभीर तथा आलोचनात्मक विचार न करना। इसी लिए जनता को अपने देश की ऐसी संधियों और अन्य अंतर्राष्ट्रीय प्रतिश्रुतियों का भी पता नहीं रहता जिन्हें स्वयं उनकी संसद, खुले रूप से उन पर काफी दिनों तक विचार करके, प्रस्थापित कर चुकी होती है। अन्य प्रजातांत्रिक देशों की बात तो दूर रही ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश में, जहाँ की जनता प्रजातांत्रिक रीति-नीति में अत्यधिक परिपक्व हो चुकी है, वैदेशिक सम्बन्धों के विषय में काफी अज्ञान ग्रस्त है। स्वयं श्री निकलसन का कथन है—"ग्रेट ब्रिटेन में भी साधारण स्त्री-पुरुष अभी तक यह अनुभव नहीं कर पाया है कि वैदेशिक मामले वैदेशिक ही मामले हैं अर्थात् वे अपने राष्ट्रीय स्वार्थों से ही नहीं वरन् अन्य देशों के स्वार्थों से भी सम्बन्धित रहते हैं।"[1]

इस राजनीतिक अपरिपक्वता का परिणाम यह भी होता है कि किसी देश के निवासियों से किंचित् सम्पर्क हो जाने पर उनके सम्बन्ध अथवा उस देश की नीति के सम्बन्ध में अपनी भावनाओं के अनुकूल धारणा बना ली जाती है। ऐसा बहुधा तब होता है जब कि कोई व्यक्ति भ्रमणार्थ अथवा अन्य किसी कार्य से दनों के लिए विदेश-यात्रा करता है और इन स्वल्प दिनों में किसी-न-किसी

lomacy—p. 93, H. Nicolson

वेसिर-पैर के शीघ्र-निर्णय पर पहुँच जाता है तथा स्वदेश लौटकर वैसा ही प्रचार करने लगता है। इसके सबसे सुन्दर उदाहरण देखने हैं तो कुछ भारत-वासियों के वे वक्तव्य पढ़िए जो उन्होंने लाल चीन और सोवियत रूस के अल्प-कालीन और सीमित भ्रमण के पश्चात् धड़ाधड़ दे डाले हैं। इस प्रकार की पूर्व-निर्धारित सम्मतियों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को ठेस पहुँचती है।

(३) "विलंब" तृतीय दोष है। प्रत्येक शासन के सम्मुख समय-समय पर ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिन पर शीघ्र निर्णय होना चाहिए, अन्यथा अनर्थ होने की संभावना रहती है। ऐसा शीघ्र निश्चय शासन से सम्बन्धित प्रवीण व्यक्तियों द्वारा तो संभव है किन्तु संसद अथवा लोकसभा को इतना समय लग सकता है कि उक्त निर्णय निरर्थक या उक्त विलम्ब अनर्थकारी हो जाय। सन् १९१४ में जर्मनी से युद्ध-विषयक क्षतिपूर्ति (Reparations) ग्रहण करने, न करने के विषय में किसी निर्णय पर पहुँचने में ब्रिटिश लोक-सभा तथा जनमत को १८ मास और फ्रांसीसी जनमत को पाँच साल लगे। परिणामस्वरूप समस्त जर्मन मध्यम वर्ग का ऐसा उच्छेद हुआ कि नात्सीवाद ने अपना पूर्णाधिपत्य जर्मन जनता के मस्तिष्क पर कर लिया, हिटलर उसका अधिनायक बन बैठा और संसार को द्वितीय विश्व युद्ध की घोर पीड़ा भुगतनी पड़ी।

जनतंत्र में संधि के अनुसमर्थन की वर्तमान प्रणाली के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विलम्ब होता है। इससे संधिवार्ता शीघ्र और सुचारु रूप से नहीं चल पाती।

(४) "अनिश्चिति"—प्रजातांत्रिक शासन प्राय: अपनी नीति को गोल-मटोल अथवा अस्पष्ट ही रखते हैं। यह त्रुटि संसार के सभी जनतंत्रों में नहीं है। और जिनमें है उन सबमें एक-बराबर भी नहीं है। प्रजातांत्रिक देशों के विदेश-मंत्री या प्रधान मंत्री या राजनयज्ञ किसी परिस्थिति के भावनात्मक, नाटकीय या नैतिक पक्ष पर अधिक जोर देते हैं और व्यावहारिक पक्ष को छिपाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रयास में कभी-कभी इतनी धूर्तता करनी पड़ती है कि राष्ट्रीय स्वार्थों की रक्षा करते समय भी उसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत की पुष्टि के रूप में प्रकट किया जाता है और ऐसा ही प्रचार किया जाता है।

(ख) **जनतंत्र और राजनयिक आचार**—जनतांत्रिक नियंत्रण के कारण

राजनयिक आचार में कुछ नयी बातें प्रविष्ट हो गयी हैं, अर्थात् राजनयिक आचार का स्वरूप बदल गया है।

जनतांत्रिक देशों में राजनय पर जनतंत्र का नियंत्रण उसके उद्गम अर्थात् वैदेशिक नीति के नियंत्रण से ही प्रारंभ हो जाता है। वैदेशिक नीति का नियंत्रण और इस प्रकार राजनय का नियंत्रण करने के लिए जनतांत्रिक शासनों में बहुधा संसद के बहुमतीय दल अर्थात् शासक दल के कुछ सदस्यों अथवा कभी-कभी विरोधी दलों के भी उत्तरदायी संसदीय सदस्यों सहित एक 'वैदेशिक-सम्बन्ध-समिति' का निर्माण कर लिया जाता है। इससे विदेशमंत्री को कुछ सुविधा अवश्य मिल जाती है तथा संसद के बाहर ही आलोचनाओं का सामना करना रह जाता है। परन्तु साथ ही इस समिति से विदेश-मंत्री को अतिरिक्त परेशानी भी उठानी पड़ती है। उसमें अनावश्यक विवाद उठ खड़े हो सकते हैं, दलगत राजनीति के दलदल में फँसकर निष्पक्ष निर्णय होने की संभावना कम हो जाती है और गुप्त बातें समय से पूर्व प्रकट हो जाती हैं जिससे देश की काफी क्षति हो सकती है। ऐसी 'वैदेशिक-सम्बन्ध-समिति' जनतांत्रिक देशों में सर्वप्रथम सं० रा० अमेरिका में बनायी गयी।

उपर्युक्त संकटों से बचने के लिए एक प्रणाली यह भी है कि उक्त प्रकार की संसदीय समिति न बनाकर शासक दल के अथवा शासन के समर्थक दलों के सदस्यों में से, अर्थात् संसद के बाहर एक वैसी ही समिति बना ली जाती है जिसमें उक्त शासकीय समिति की अच्छाइयाँ तो सब आ जाती हैं परन्तु उसकी त्रुटियाँ नहीं आ पातीं।

प्रकाशन तथा प्रचार का कार्य

प्रकाशन और प्रचार जनतांत्रिक शासन के आवश्यक अंग हैं। यद्यपि अधिनायकवादी राज्यों में पत्र-पत्रिकाएँ नियंत्रित रूप से सुनिश्चित प्रचार के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं और जनतांत्रिक देशों में प्रकाशन (जन-संवेदन, पब्लिसिटी) का प्रमुख उद्देश्य जनता को महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में नियमित रूप से सूचित करना तथा शिक्षित करना रहता है, तथापि आजकल तो जनतांत्रिक देशों में भी पत्र-पत्रिकाएँ विभिन्न प्रकार के शासकों की रुचि

के अनुसार प्रचार-कार्य में ली जाती हैं। यह भी दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम, विशेष पत्र-पत्रिकाओं को विज्ञापन, महत्त्वपूर्ण समाचार आदि के सम्बन्ध में प्राथमिकता देकर गुप्त रूप से अपने पक्ष में करना और उनसे अपनी रुचि के अनुकूल प्रचार करवाना। द्वितीय, विदेशमंत्रालय अथवा पूरे शासन के लिए एक प्रेस-विभाग की स्थापना अलग से करना। भारतवर्ष में सूचना-विभाग ही अलग है और उसके लिए एक मंत्री अलग से रहता है। अन्य प्रजातांत्रिक देशों में प्रायः इसी तरह का एक विभाग पृथक् या अन्य विषय के विभाग के साथ संयुक्त रहता है।

शासन स्वतः अपनी ओर से भी अनेक बातों का प्रकाशन करवाता है। पहले यूरोप और ब्रिटेन दोनों में शासन कुछ विशिष्ट समाचारपत्रों के साथ पक्षपात करता था। ऐसे पत्रों को यूरोप में "प्रेरित" अथवा "उरंगम" पत्र (Inspired or Reptile Press) कहते थे तथा ब्रिटेन में उन्हें 'उत्तरदायी पत्र' (Responsible Press) कहा जाता था। राजनयिक नियंत्रण के समय से अब इस प्रकार का पक्षपात स्पष्ट रूप से और अधिक नहीं किया जा सकता। अब तो साधारण तथा महत्त्वपूर्ण समाचारों के विषय में संवाददाताओं को उनकी विश्वसनीयता, सूझ-बूझ आदि के आधार पर प्राथमिकता दी जाती है किन्तु समाचारपत्रों की आवश्यकताओं और अधिकारों तथा विवेक में पारस्परिक संतोषपूर्ण व्यवस्था एवं संतुलन होने की अभी अत्यन्त आवश्यकता है।

पत्रकारिता की दृष्टि से इसे सब स्वीकार करते हैं कि सर्वाधिक उत्तरदायी समाचारपत्र ग्रेट ब्रिटेन के हैं।

प्रचार के नये ढंग—नवीनतम राजनयिक आचार में प्रचार के ये नये ढंग अपने पक्ष में जनमत तैयार करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। इन ढंगों के आविष्कार का मूल कारण संसार का दो विरोधी शिविरों में बँट जाना है।

१—विरोधी शिविर की सर्वसाधारण जनता का, उसके शासकों की अवहेलना करते हुए, आह्वान करना।

विदेशों में जनता से सीधा सम्पर्क उन संस्थाओं के द्वारा भी होता है जिनकी स्थापना उन देशों में किसी अन्य शासनविशेष के प्रोत्साहन अथवा स्वयं उसके समर्थकों द्वारा की जाती है। ये संस्थाएँ समय-समय पर उक्त शासन की नीतियों

या सिद्धांतों का प्रचार स्थानीय जनता में सद्भावना-प्राप्ति हेतु करती रहती हैं। ऐसी संस्थाएँ अधिकांशतः कम्यूनिस्टों या उनके साथ सहानुभूति रखनेवालों के द्वारा ही संचालित होती हैं। 'जनतांत्रिक-महिला-संघ', 'शांति-मोर्चा', 'जन-नाट्य-मंडली', 'सोवियत रूस का मित्र-समाज', 'भारत-चीन मैत्री-सभा' आदि ऐसी ही संस्थाएँ हैं। अमेरिका आदि देशों ने भी सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वारा इसकी नकल करने की चेष्टा की है। किन्तु अमेरिका अपने उद्देश्य में उतना सफल नहीं हो सका है जितनी कि उपर्युक्त वामपक्षीय संस्थाएँ। उसका तो, 'वॉयस आफ अमेरिका' (Voice of America) नामक आकाशवाणी से, अधिक प्रचारकार्य होता है जो कम्यूनिस्ट तथा अन्य देशों की जनता को सीधा सम्बोधित करता है।

२—भर्त्सना अथवा निंदा—अभियान द्वारा विरोधी शिविर की जनता में उसके शासकों के कुटिल उद्देश्यों का प्रचार करके उन्हें उनकी प्रजा की दृष्टि में नीचे गिराना।

३—शस्त्रास्त्रों तथा अन्य युद्धोपकरणों के लिए प्रति वर्ष आय-व्ययपत्रक (वजट) में भारी रकमों का प्रावधान (प्रावीज़न) करना तथा इसके प्रचार के द्वारा विरोधी पक्ष को भयभीत करने का भौंड़ा प्रयास करना, जैसा कि अमेरिका, पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र एवं पाकिस्तान करते हैं।

४—एक पक्ष के द्वारा यह प्रचार करना कि उसके समर्थन के लिए विरोधी देश की जनता ने हड़तालें, प्रदर्शन तथा सभाएँ कीं। इस प्रणाली का अनुकरण कम्यूनिस्ट देश करते हैं।

प्रचार तथा प्रकाशन के उद्देश्य—वर्तमान समय में प्रकाशन (जनसंवेदन) तथा प्रचार का उपयोग भी दो उद्देश्यों से किया जाता है।

१—अपने किसी प्रश्न पर अनुकूल विचार के लिए पहले से ही एक अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तैयार करना। यह अत्यंत उपयोगी प्रणाली है और अत्यधिक प्रचलित भी है। आजकल प्रत्येक विदेश-मंत्रालय इस कार्य के लिए प्रशिक्षित एवं दक्ष अधिकारीगण नियुक्त करता है और समय-समय पर विपुल साहित्य प्रकाशित करता रहता है।

२—संधिवार्ता के दरम्यान इतर-पक्ष पर दबाव डालने की इच्छा से प्रका-

शन और प्रचार का उपयोग करना। यह अदूरदर्शिता का उदाहरण है और क्वचित् ही उद्देश्य सिद्धि कर पाता है। कम्यूनिस्ट देश इस प्रणाली का प्रयोग विशेष रूप से करते हैं। उनकी देखादेखी कुछ दूसरे देश भी कभी-कभी ऐसा करने लगते हैं। संयुक्त-राष्ट्र-संघ की वृहत सभा (General Assembly) की कार्यवाहियों में जो भाषण विरोधी दलों, विशेषकर कम्यूनिस्ट प्रतिनिधियों के द्वारा किये जाते हैं उनका उद्देश्य भी अपने मत का प्रचार या पुष्टि करना रहता है ताकि संसार का जनमत पक्ष में रहा आये या आ जाय।

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभ तक स्वयं राजनेतागण (Statesmen) प्रचारकार्य में ऐसी बातें नहीं कहते थे जिन्हें कि विदेश की जनता भली प्रकार से सफेद झूठ जानती हो। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध ने इसका अन्त कर दिया। श्री निकल्सन दुःख के साथ स्वीकार करते हैं कि स्वयं ब्रिटिश जनता की भी ऐसे प्रचार में रुचि हो गयी है।[1] दोनों विश्वयुद्धों में किये गये ब्रिटिश प्रचार को देखने से ज्ञात हो जायगा कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस कला में कितने दक्ष हो गये हैं।

रेडियो तथा प्रचार

रेडियो के द्वारा प्रचार की कला ने बड़ा ही व्यापक रूप धारण कर लिया है क्योंकि इस साधन की सहायता से कुशल वक्ता अपने कौशल से जनता को किसी उद्देश्यप्राप्ति के लिए उन्मत्त कर सकता है। हिटलर को इसका प्रयोग भली भाँति विदित था। उसने इसके सफल प्रयोग के लिए अपनी पुस्तक "मीन काम्फ" (Mein Kampf) में ये सिद्धान्त बताये हैं—

१—प्रचार का लक्ष्य बुद्धिमान् या समझदार व्यक्ति नहीं वरन् न्यूनतम बुद्धिवाले व्यक्ति होने चाहिए। उनकी भावनाओं को जाग्रत करके उनमें उन्माद भर देना चाहिए।

२—विरोधी के पक्ष में कोई बात नहीं कहनी चाहिए—नितांत विपक्ष में ही कहनी चाहिए।

३—प्रचार में दो ही पक्ष रहने चाहिए—अच्छा और बुरा, सत्य और झूठ

1. Ibid, p. 169

उचित और अनुचित आदि। अभिप्राय यह कि बीच की कोई बात नहीं कहनी चाहिए।

४—साधारण झूठ का प्रचार में उपयोग नहीं करना चाहिए। झूठ इतना व्यापक और विशालकाय होना चाहिए कि सुननेवालों को यह विश्वास ही न हो सके कि इतनी बड़ी झूठी बात भी गढ़ी जा सकती है।

इस प्रकार के प्रचार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तो बिगड़ते ही हैं। साथ ही इसके कारण कभी-कभी जनमत इतना उन्मत्त हो जाता है कि स्वयं उसे भड़काने-वाले उसे वश में नहीं कर पाते और वह उलटे उन्हीं के विरुद्ध हो जाता है। वर्तमान अमेरिकन जनता में जो युद्ध-मनोवृत्ति (Bellicose mentality) व्याप्त हो रही है वह ऐसे ही प्रचार-कार्य का परिणाम है। ऐसे प्रचार के घातक प्रभाव को रोकने का तो एक ही उपाय है—सत्य, शांति तथा धर्म।

यह स्मरण रहे कि प्रचारकार्य में बहुधा विदेश-मंत्री का ही सीधा हाथ रहता है, राजनयज्ञों का नहीं, और पत्रकार सम्मेलन (Press conferences) उनके लिए प्रचार का अभिनव साधन बन जाते हैं, यद्यपि कुछ विद्वानों के मतानुसार विदेशमंत्री भी राजनयज्ञ ही रहता है।[1]

'पत्र-सहचारी' और सांस्कृतिक सहचारी—(Press attache and Cultural attache)—प्रचार तथा प्रकाशन की उपयोगिता आजकल इतनी बढ़ गयी है कि प्रायः सभी शासन अपने बड़े और प्रमुख राजदूतावासों में एक सूचना विभाग की स्थापना तथा एक पत्र-सहचारी (Press attache) नामक कर्मचारी की नियुक्ति करते हैं। यह कर्मचारी अनेक विभिन्न कार्य करता है। वह स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं के लेखों को पढ़कर विचारपूर्वक उनका विन्यास तथा अनुवाद करता है; स्वदेशीय तथा अन्य संवाददाताओं एवं पत्रकारों से भेंट करके अपनी सरकार के दृष्टिकोण का प्रकाशन कराता है और अपने लिए लाभ-दायक सूचनाएँ प्राप्त करता है।

बहुधा राजदूत के साथ पत्र-सहचारी को स्थानांतरित नहीं किया जाता

1. A Guide to Diplomatic Practice—Satow-((4th Edition, 1957) p. 3, para 4.

वरन् उसे एक ही स्थान पर कई वर्षों तक रहने दिया जाता है। परिणाम-स्वरूप वह उक्त देश की राजनीति, वहाँ के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों आदि की विशेष और ठोस जानकारी प्राप्त कर लेता है। वह सुगमतापूर्वक और विना किसी आक्षेप की संभावना के अनेकानेक स्थानीय व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर सकता है। स्वयं राजदूत अपने पद के अनिवार्य बंधनों के कारण ऐसा सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकता। कुछ असाम्यवादी शासन अपने राजदूतावासों में एक नवीन कर्मचारी की नियुक्ति करने लगे हैं जिसे 'सांस्कृतिक सहचारी' (Cultural attache) कहते हैं। साम्यवादियों के सैद्धान्तिक प्रचार के विपरीत असाम्यवादी संस्कृति का प्रचार करने की दृष्टि से स्वच्छंद उद्योगप्रणाली का समर्थन करने के लिए ही इसकी नियुक्ति की जाती है। यदि परिणामों को कसौटी मानकर निष्कर्ष निकाला जाय तो स्पष्ट विदित होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इस स्वरूप से यद्यपि राजदूतावासों का व्यय अत्यधिक बढ़ गया है तथापि उससे राष्ट्रों के पारस्परिक मैत्री-भाव में किसी प्रकार का योग नहीं मिला है। इसका मूल कारण यह है कि इन साधनों का प्रयोग गलत दृष्टिकोण से होता है।

राजनयिक पतंगबाजी—(Diplomatic kite flying):—वर्त्तमान राजनयिक आचार में अर्ध-राजकीय एवं अन्य प्रमुख पत्रों के द्वारा प्रचार का एक और भी ढंग अपनाया जाता है। उसे 'पतंगवाजी' कहते हैं और उसे बुरा नहीं माना जाता। शासकों की किसी नयी कार्यवाही अथवा प्रस्ताव पर जनमत परखने के लिए पत्रों में तरह-तरह की आलोचना-प्रत्यालोचना, टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की जाती हैं। प्रायः यह कार्य शासकगण अपने विश्वस्त संवाददाताओं अथवा अन्य व्यक्तियों के द्वारा 'प्रेरित पत्रों' आदि में लेख आदि के रूप में कराते हैं। इससे जनमत पर किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयास नहीं किया जाता वरन् उसका रुख देखा जाता है।

राजनीतिज्ञों का संधिवार्ताओं में भाग लेना

नवीन राजनयिक आचार में एक अन्य नयी पद्धति को जनतांत्रिक देश अपनाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित कर रहे हैं; स्वयं राजनीतिज्ञों का संधिवार्ता में भाग लेना। अत्यंत आवश्यक मंत्रणा-सभाओं में प्रधान-मंत्री या विदेश-मंत्री

स्वयं भाग ले तो कोई हानि नहीं। किन्तु बार-बार इनका विदेश में वहाँ के प्रधान मंत्री, विदेश-मंत्री या विदेश-सचिव से भेंट करना उचित नहीं। अल्पकालीन प्रवास होने के कारण विदेश के स्वागत-सत्कार की चकाचौंध में उनकी भावनाएँ या भावुकता उनके विवेक पर हावी हो सकती हैं। ऐसी भेंटों से जनता में व्यर्थ की आशाएँ जाग्रत होती हैं और जब उन आशाओं के अनुरूप परिणाम नहीं निकलता तो आवश्यकता से अधिक नैराश्य भी जनता को घेर लेता है। परिणामस्वरूप संभ्रम, गलत-फहमियाँ आदि विरोधी या हानिप्रद भावनाएँ जड़ जमा लेती हैं। 'नेहरू-लियाकत अली-पैक्ट' इस प्रकार की भेंट का सर्वोत्तम उदाहरण है जिसके परिणामस्वरूप पहले तो भारत एवं पाकिस्तान दोनों देशों में आशा की उमंगों और भावुकता की बाढ़-सी आ गयी परन्तु जब कोई ठोस फल प्राप्त नहीं हुआ तो दोनों देशों में निराशा और विरोध ने द्विगुणित बल से धावा बोल दिया। लंका-स्थित भारतीयों के प्रश्न पर नेहरूजी तथा लंका के प्रधान मंत्री की भेंट से भी कुछ ऐसी ही मिथ्या आशा को प्रोत्साहन मिला था किन्तु परिणाम कुछ न निकला। इसी लिए सोवियत-अमेरिकी गुटों के मध्य तनावपूर्ण वातावरण को मिटाने तथा कुछ जटिलतम प्रश्नों को सुलझाने के लिए "चार बड़ों" की बैठक के लिए विश्वव्यापी माँग होने पर भी ऐसी बैठक तुरन्त नहीं की गयी बल्कि उसके लिए यथोचित समय तक ठहरा गया, तब जाकर "चार बड़े" मिलकर एक स्थान पर बैठ सके और इस सम्मेलन के परिणामों को देखते हुए उसे असफल नहीं कहा जा सकता।

सोवियत रूस ने, प्रधान मंत्री मार्शल बुल्गानिन के कार्यकाल में, अन्य देशों से सम्पर्क-स्थापन, सम्बन्ध-विस्तार या संधिवार्ता करते समय एक नयी प्रथा का सूत्रपात किया है। मार्शल बुल्गानिन भारत आदि देशों में रूसी सद्भावना-मंडल के मुखिया होकर जब भ्रमणार्थ आये तो उनके साथ रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी के तत्कालीन प्रधान निकिता ख्रूशेव भी थे और दोनों को बराबर सम्मान दिये जाते रहे हैं। यही नहीं, विदेशी शासनों से वार्तालाप होते समय भी श्री ख्रूशेव उपस्थित रहे हैं और अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर रूसी सरकार की घोषणा भी पत्रकार सम्मेलनों या भाषणों में करते रहे हैं। रूस में तो ऐसा उन्होंने कई बार किया है।

आजकल संधि-विषयक अथवा अन्य किसी प्रकार के समझौते की बातचीत में अप्रत्यक्ष रूप से कोई माँग प्रस्तुत न करने की एक नयी हवा चल पड़ी है। इसके विपरीत माँगें एकदम प्रत्यक्ष रूप म, अधिकाधिक संख्या में और कटु एवं कठोर भाषा से अलंकृत करके प्रस्तुत की जाती हैं। कोरिया कान्फ्रेंस, बर्लिन कान्फ्रेंस आदि इसके कई उदाहरण हैं। किन्तु अब जेनेवा सम्मेलन, 'चार बड़ों का सम्मेलन' आदि के पश्चात् इस प्रणाली में फिर से पीछे की ओर मोड़ आ रहा है।

सामाजिक सम्पर्क पर प्रतिबन्ध

साम्यवादी देशों ने, विशेषकर सोवियत रूस ने, राजनयिक आचार के क्षेत्र में एक नयी पद्धति का आविष्कार किया है; अपने देश की जनता से विरोधी शिविर के किसी भी व्यक्ति का सम्पर्क पूर्णतया बन्द कर देना। इससे पारस्परिक आदान-प्रदान व प्रभाव की संभावना ही नहीं रहती और इसलिए अज्ञान बढ़ता अथवा सुदृढ़ होता है तथा सद्भावनाएँ नष्ट होती हैं। सोवियत रूस तथा पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देशों का तथाकथित लौह-आवरण ऐसे ही सम्पर्कविरोध का उदाहरण है। परन्तु इस नीति से साम्यवादी देशों ने अपने विरोध में ऐसा विश्वव्यापी वातावरण उत्पन्न कर लिया कि उन्हें अपनी नीति में परिवर्तन कर देना पड़ा है। यही कारण है कि अब रूस, चीन आदि साम्यवादी देश अपने लौह-आवरण को शनैः शनैः हटा रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि अब विदेशों के अनेकानेक राजकीय, अर्द्धराजकीय या गैर-राजकीय प्रतिनिधि-मंडलों, कलाकार-मंडलों, सद्भावना-मंडलों, प्राविधिक-मंडलों, खिलाड़ियों की टीमों आदि को अथवा अन्य व्यक्तियों को उक्त देशों में प्रवेश तथा भ्रमण की अनुमति दे दी जाती है और ऐसे स्थानों को भी देखने दिया जाने लगा है जिन तक पहुँचने की पहले पूर्ण मनाही सबके लिए थी। इस ढील के कई कारण हो सकते हैं, जैसे स्टालिन की मृत्यु, चीन में साम्यवाद के उग्र स्वरूप का न अपनाया जाना, लौह-आवरण के विरुद्ध असाम्यवादी देशों में किये जानेवाले प्रचार का अन्त करने की इच्छा, अमेरिका द्वारा सोवियत रूस के विरुद्ध अधिकाधिक व्यापक संगठन करने की चेष्टाएँ और इस प्रकार उस पर दबाव डालना आदि।

संवादों की भाषा (Language of Communications)—संसार के दो सैद्धांतिक शिविरों में बँट जाने का प्रभाव विभिन्न शासनों द्वारा परस्पर आदान-प्रदान किये जानेवाले संवादों पर भी पड़ा है। पुराने राजनय में ऐसे संवादों की भाषा अधिक से अधिक तनावपूर्ण स्थितियों में भी विनम्रता-युक्त एवं शिष्टता से परिपूर्ण रहती थी। आजकल ऐसे संवादों की भाषा और स्वर दोनों कठोर एवं अशिष्टतापूर्ण अर्थात् सीधी चोट करनेवाले रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले के संवाद साधारण जनता के लिए नहीं वरन् उन्हीं के लिए होते थे जो राजनय की वारीकियों को समझते थे। पहले की राजनयिक भाषा विशिष्ट चिरपरिचित अर्थों में प्रयुक्त होती थी, परन्तु आज जनतांत्रिक राजनय के इस नूतन स्वरूप के लिए ऐसी राजनयिक भाषा ही प्रयुक्त की जाती है जो सर्वसाधारण की समझ के वाहर न हो। इन दोनों प्रकार की भाषाओं के कुछ रूप आगे "राजनयिक भाषा" नामक अध्याय में बताये गये हैं।

सम्मेलनीय राजनय[1]

सम्मेलनीय राजनय के प्रथम उदाहरण १९वीं सदी में सन् १८१५ की वियेना-सभा तथा उसी से सम्वन्धित उसके वाद की सभाओं में मिलते हैं। 'यूरोप-संविधा' (Concert of Europe) की चर्चा पहले की जा चुकी है। सन् १८७८ का वर्लिन सम्मेलन, सन् १८९९ और १९०७ के हेग-शांति-सम्मेलन (Hague Peace Conference) भी ऐसे ही सम्मेलन थे। किन्तु इस राजनयिक प्रक्रिया ने वीसवीं सदी में ही स्थायी रूप ग्रहण किया जब कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) की नींव डाली गयी। वैसे तो प्रथम विश्व-युद्धकाल में ही 'मित्र-राष्ट्रों' को सुचारु रूप से अपने युद्ध-संचालन के लिए वारंवार महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार-विमर्श करके किसी निर्णय पर शीघ्र पहुँचने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि "यौद्धिक क्रय और वित्त-विषयक मित्र-राष्ट्रीय परिषद" (Allied Council on War Purchases and Finance), "मित्र-राष्ट्रीय खाद्य-

1. सम्मेलनों और सभाओं के विषय में और भी जानकारी के लिए सेटो (Satow) के Guide to Diplomatic Practice का २२ वाँ अध्याय देखिए।

परिषद (Allied Food Council) आदि परिषदों की स्थापना हुई। इन सबके ऊपर की जो परिषद थी उसे "मित्र तथा संम्बद्ध राष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद्" (Supreme War Council of the Allied and Assosiated Powers) कहते थे। समय-समय पर इन परिषदों की बैठकों में महत्त्वपूर्ण निर्णय विभिन्न मित्र-राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा किये जाते थे और ये ही परिषदें युद्ध-संचालन की प्रमुख धुरी थीं।

इस नयी प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१—इस प्रकार के सम्मेलनों में राष्ट्रीय स्वार्थ की नहीं वरन् सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थों की प्रधानता रहती है। अतएव राष्ट्रीय स्वार्थों की प्रतिस्पर्धा से उत्पन्न होनेवाली विषम परिस्थितियाँ शांत पड़ी रहती हैं।

२—विभिन्न देशों के अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों (Experts) के बारबार आपस में मिलने से स्थायी पारस्परिक विश्वास और सहयोग का बीजारोपण और वृद्धि होती है।

३—नीति निर्धारित करनेवाले स्वयं संधिवार्ता में भाग ले सकते हैं जिससे निर्णय शीघ्र होते हैं, समय की बचत होती है और उक्त नीति-निर्धारकों की पारस्परिक घनिष्ठता पुष्टतर होती जाती है।

किन्तु इस पद्धति में दोष भी हैं—

१—विभिन्न राज्यों के प्रमुख व्यक्तियों—प्रधान मंत्री आदि का बारंबार मिलना पारस्परिक वैमनस्य का जन्मदाता हो सकता है।

२—नवीन मैत्री और प्रेमभाव के भावावेश में स्वदेश के लिए घातक या हानिकारक संधियाँ या प्रतिश्रुतियाँ तय कर ली जा सकती हैं।

३—अनिश्चिति, गलत-फ़हमी, विवेकहीनता और गुप्त बातों का समय से पूर्व प्रकट हो जाना।

४—शीघ्रता के कारण अदूरदर्शितापूर्ण निर्णयों की संभावना और प्रदर्शन।

५—राजनयिक सम्मेलनों का आज की नवीन प्रचार-प्रणाली के युग में बड़ा दुरुपयोग भी किया जाता है। इन सम्मेलनों में साम्यवादी तथा पूँजीवादी दोनों पक्षों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी विचार-धारा का संसार में प्रचार करने के दृष्टिकोण से तथा विरोधी पक्ष पर दोषारोपण करने के लिए लम्बे-लम्बे एवं

कटुतापूर्ण भाषण करते हैं। परिणाम यह होता है कि समस्त वातावरण विषाक्त हो उठता है और किसी विषय के निर्णय पर शीघ्र पहुँचना तो दूर रहा उलटे दूसरी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं और तनाव बढ़ता ही जाता है। राष्ट्र-संघ की समाप्ति के पश्चात्, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध काल में तथा उसके बाद तो जैसे राजनयिक सम्मेलनों की बाढ़-सी आ गयी, जैसे ब्रेटेन-वुड्स, डम्बार्टन ओक्स्, सेनफ्रांसिस्को आदि सम्मेलन, जिनकी पराकाष्ठा संयुक्त-राष्ट्र-संघटन के निर्माण में हुई। और अब कोलम्बो कान्फ्रेन्स, लंदन कान्फ्रेन्स, जेनेवा कान्फ्रेन्स आदि ऐसे ही सम्मेलन हैं। इन सम्मेलनों की अधिकांश विरोधोत्पादक सामग्री प्रारंभिक काल में ही इस तरह समाप्त कर ली जाती है कि पहले ऐसे सम्मेलनों में भाग लेनेवाले देशों को तत्सम्बन्धी विषय-सूची और अधिकार-क्षेत्र पर एकमत कर लिया जाता है और फिर सम्मेलन का कार्यारम्भ होता है।

सम्मेलनीय राजनय का ही एक दूसरा तथा व्यापक स्वरूप लीग आफ नेशन्स अर्थात् 'राष्ट्र-संघ' था और अब 'संयुक्त-राष्ट्र-संघटन' (U.N.O.) है। परन्तु इनके स्वरूप में साधारण राजनयिक सम्मेलनों या परिषदों से कुछ विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं।

(क) सदस्यों का एक लिपिबद्ध प्रसंविदा से वचनबद्ध होना।

(ख) उनकी साधारण बैठक नियमित रूप से निश्चित समय पर निश्चित स्थान में होना।

(ग) एक स्थायी सचिवालय का एक निश्चित स्थान में कार्य करना।

किन्तु अभी तक के सम्मेलनीय राजनय का इतिहास देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक सबको किसी सामान्य शत्रु से भय रहता है तभी तक ऐसे सम्मेलनों के सदस्य एक सूत्र में बँधे रहते हैं। उक्त भय के दूर होते ही ये सदस्य राष्ट्र भी स्वार्थ तथा पारस्परिक वैमनस्य के चक्कर में पड़कर सम्मेलन को छिन्न-भिन्न करने का कारण और सहायक बनते हैं। 'राष्ट्र-संघ' का दुःखद अन्त इसी कारण से हुआ और इस अन्त में शीघ्रता इसलिए हुई कि अमेरिका और रूस आदि बड़ी शक्तियों ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता स्वीकार नहीं की या बाद में त्याग दी। संयुक्तराष्ट्र-संघटन का जन्म ही सामान्य संकट के समय हुआ। वास्तव में यह सामान्य भय मूलतः फासिस्ट राष्ट्रों की सामरिक शक्ति

से था यद्यपि वाद में चलकर यह सामान्य भय विध्वंसकारी युद्ध ही रह गया। इसी लिए अन्तर्राष्ट्रीय शांति-स्थापना ही संयुक्त-राष्ट्र-संघटन का उद्देश्य है। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति में सं० रा० सं० वारंवार असफल होता प्रतीत होता है क्योंकि सोवियत रूस और अमेरिका के समान-शत्रु जर्मनी तथा धुरी राष्ट्रों की शक्ति का अन्त हो जाने से अव उनके स्वार्थ आपस में टकराने लगे, जिससे संसार दो शिविरों में वँट गया और शीत-युद्ध (Cold War) तथा तनावपूर्ण वातावरण की सृष्टि हुई। दोनों शिविरों में अपने-अपने पक्ष की पुष्टि तथा प्रावल्य के लिए सभी प्रकार के तरीके अपनाये जाने लगे—यहाँ तक कि स्वयं संयुक्त-राष्ट्र-संघटन की सत्ता की खुली अवहेलना की जाने लगी। इसी लिए विभिन्न आक्रामक संगठनों का निर्माण किया गया जिसका कार्य अव भी उसी गति से चालू है। यद्यपि इन्हें 'प्रतिरक्षात्मक संगठन' नाम देकर उनके असली स्वरूप पर पर्दा डालने का हास्यास्पद प्रयास भी किया जाता है और साथ ही मजा यह है कि यह सव कार्य संयुक्त-राष्ट्र-संघटन के शास (चार्टर) के अंतर्गत ही किया गया वताया जाता है। इस सम्वन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय धूर्तता तो पराकाष्ठा पर तव पहुँच गयी जव कि स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण पर से इंग्लैंड, फ्रांस और इसराइल ने मिस्र पर खुले आम आक्रमण कर दिया और वीर कर्नल नस्सर की सरकार को कुचलना चाहा, किन्तु उलटे फ्रांस और इँग्लैण्ड निर्लज्जतापूर्वक संसार से यह कहते थे कि उनका लक्ष्य तो आक्रमण नहीं वल्कि मिस्र और इसराइल की फौजों के वीच में अपनी फौजें करके युद्ध रोकना और स्वेज नहर को अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के लिए खोले रखना था। यहाँ तक कि सं० रा० सं० के वारंवार आदेश देने पर ही तीनों आक्रमणकारियों ने सेनाएँ हटायीं, सो भी रूस की धमकी और अमेरिका के दवाव के कारण। आश्चर्य यह है कि अमेरिका को इस षड्यंत्र का पता था।

इन्हीं सव कारणों से सम्मेलनीय राजनय पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है और राजनयिक क्षेत्र में पुनः १९वीं सदी की व्यक्तिगत सम्पर्क तथा आपसी चर्चावाली प्रणाली की ओर झुकाव दीख रहा है। चार वड़ों के सम्मेलन की माँग इसी लिए वारंवार उठी और वह सम्मेलन गुप्त रूप से ही हुआ और सफल भी हुआ। अव पुनः उसी सम्मेलन की माँग उठी है और उस दिशा में

प्रयत्न हो रहे हैं। इस मनोवृत्ति के पुनर्जागरण में तटस्थ राष्ट्रों, विशेषतः भारत, का वड़ा हाथ रहा है। भारत के तत्कालीन पर्यटक-राजदूत (Roving Ambassador) और अव भारत के प्रतिरक्षामंत्री श्री वी. के. कृष्णमेनन तो प्रति क्षण इसी कार्य में रत हैं।

इस प्रकार यद्यपि सम्मेलनीय राजनय राजनयिक-प्रक्रिया में स्थायी रूप से आगमन कर चुका है किन्तु उसका विस्तार और प्रभाव सदैव एक-सा व्यापक नहीं रह सकता। वह अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप और अपनी उपयोगिता के अनुसार ही रहेगा। इसी लिए श्री विलियम नारटन मैंडलीकाट ने चैम्वर्स एनसाइक्लोपीडिया (नवीन संस्करण—चतुर्थ खंड) में कहा है—

"इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सम्मेलनीय राजनय की प्रावस्था (Phase), जो वड़ी अन्तर्राष्ट्रीय संकटापन्न परिस्थितियों का अनुगमन करती है, सदैव सीमित अवधि की होती है और एक निश्चित समय के वाद राज्यों के वीच अपने स्थायी प्रतिनिधियों द्वारा पारस्परिक संवादवाली परंपरागत एवं परखी हुई प्रणाली अपना अस्तित्व पुनः स्थापित करने लगती है। यह प्रणाली विना किसी सारभूत रूपभेद (Essential Modification) के उस समय तक चलेगी जव तक कि स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की सामान्य इकाई वने रहेंगे।

उक्त सम्मेलनीय राजनय का एक दूसरा स्वरूप तथा राष्ट्रों के मध्य स्वोद्भूत सहयोग एवं संघ-भावना का द्योतक "ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल" (British Commonwealth of Nations) है जो अव केवल "राष्ट्र-मंडल" (Commonwealth of Nations) नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस मंडल के सदस्य वे देश हैं जो किसी समय ब्रिटेन के उपनिवेश थे और जिन्होंने धीरे-धीरे जनतांत्रिक सांविधानिक शासन के लक्ष्य की प्राप्ति की है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के वाद भी वे स्वेच्छा से ही ब्रिटेन के सहयोग एवं अनुभव से लाभ उठाना चाहते थे। इसलिए वे कुछ रूपों में ब्रिटेन से वँधकर भी अन्य क्षेत्रों में संपूर्ण स्वतंत्र रहे आये। इन देशों के एक सूत्र में वँधने का कारण है 'सवकी ब्रिटिश राजा में सामान्य राजनिष्ठा।' इस 'राष्ट्र-मंडल' के सदस्य 'अधिराज्य' अर्थात् डोमिनियन (Dominion) कहलाते हैं।

जब से भारतवर्ष एक गणतंत्र राज्य घोषित हुआ है तब से इस ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया है। ब्रिटेन भारत को राष्ट्र-मंडल में रखना चाहता था और भारत की भी यही इच्छा थी। सन् १९४७ (१५ अगस्त) से सन् १९५० के अन्त तक भारत एक अधिराज्य (डोमिनियन) के रूप में ही सदस्य रहा भी आया। परन्तु जब २६ जनवरी सन् १९५० को भारत एक पूर्णतया गणतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया तो इस प्रकार की सदस्यता संभव नहीं रह गयी, क्योंकि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के नियमों के कारण उसके अन्तर्गत रहनेवाले सदस्य राष्ट्र को उसके प्रमुख बंधन 'ब्रिटिश शासक में राजनिष्ठा' में बँधकर रहना पड़ता है, जो पूर्णतया स्वतंत्र राष्ट्र गणतंत्र-भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के विपरीत था।[१] इसलिए भारत को राष्ट्र-मंडल का सदस्य बनाने के लिए ही उक्त बंधन भारतवर्ष के लिए हटा दिया गया और उसे एक विशेष सदस्य के रूप में स्थान दिया गया। इस मौलिक परिवर्तन के कारण ही ब्रिटिश शब्द निकाल-कर केवल "कामनवेल्थ आफ़ नेशन्स" (राष्ट्र-मंडल) नाम ही रखा गया।

इसके सदस्य अपनी वैदेशिक नीति के विषय में ब्रिटेन से तथा एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र हैं। वे एक-दूसरे की राजधानियों में जिस राजनयिक दूत की नियुक्ति करते हैं उसे 'उच्चायुक्त' (High Commissioner) कहा जाता है। उसके अधिकार और विशेषाधिकार राजदूतों जैसे ही रहते हैं। ये सदस्य इतर देशों की राजधानियों में राजदूत भी नियुक्त कर सकते हैं। वे संयुक्त राष्ट्र-संघटन के स्वतंत्र सदस्य भी, हो सकते हैं और कई हैं भी जैसे भारतवर्ष, पाकिस्तान, कैनेडा, दक्षिण अफ्रीका।

१. यद्यपि भारत पूर्ण गणतंत्र एवं स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति में राष्ट्रमंडल का सदस्य है और प्रत्येक बात में ब्रिटेन से स्वतंत्र माना जाता है किन्तु यह विषय भी बड़ा विवादास्पद है, क्योंकि सैद्धांतिक रूप में अवश्य भारत स्वतंत्र है किन्तु अनेकों ऐसी व्यावहारिक संभाव्य परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें यह निर्णय करना कठिन होगा कि क्या वह राष्ट्रमंडल के विरोध में भी खड़ा हो सकता है। जो लोग भारत की राष्ट्र-मंडलीय सदस्यता का तीव्र विरोध करते हैं और उसे त्यागने की बात कहते हैं उनके मन में यही वास्तविक शंका रहती है कि क्या हर संभव परिस्थिति में राष्ट्रमंडल का सदस्य रहते हुए भी भारत पूर्ण स्वतंत्र राष्ट्र की भाँति कार्य कर सकेगा?

इस राष्ट्र-मंडल की विशेषता यह है कि वह केवल पारस्परिक विश्वास, सद्भावना और सहयोग की मनोवृत्ति पर ही आधारित है। उसके पीछे न कोई लिपिबद्ध संविधान है और न कोई संमैत्री (Alliance) ही है। जो विषय समस्त राष्ट्र-मंडल के सामान्य हित का होता है उस पर सभी सदस्य राष्ट्रों में परस्पर विचार-विनिमय तथा परामर्श होता रहता है ताकि पारस्परिक हितों की रक्षा करते हुए सब एक निर्णय पर पहुँच सकें और उसी के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कदम उठा सकें। राष्ट्र-मंडल के सदस्य देशों की बैठक निश्चित समय पर होती रहती है।[१]

वाणिज्य-सहचारी एवं वित्त-सहचारी

राजनय के प्रारंभिक रूप का एक प्रमुख प्रेरक तत्त्व वाणिज्य था, जैसा कि राजनय के विकास-विषयक पिछले अध्यायों से स्पष्ट विदित होगा। सुदूर-पूर्व (पूर्वी एशिया) और निकट-पूर्व (पूर्वी यूरोप) के तथा एशिया के अन्य देशों में पाश्चात्य देशों के राजनयिक प्रतिनिधियों का भी प्रारंभिक रूप वाणिज्य से प्रभावित था। वे व्यवसायी कंपनियों के प्रतिनिधि तो रहते ही थे किन्तु साथ ही अर्द्ध-राजकीय प्रतिनिधि का कार्य भी करते थे। भारतवर्ष में इंगलिश, फ्रेंच, पोर्तगीज और डच व्यापारियों का प्रवेश और शनैः शनैः उनके स्वरूप का राजनीतिक रूप धारण कर लेना इसी का परिचायक है। बाद में जब राजदूत और राजनयिक प्रतिनिधियों की संस्था पूर्णतया शासनान्तर्गत हो गयी तो उनका उद्देश्य स्वदेश के प्रवासी व्यक्तियों के केवल राजनीतिक अधिकारों और हितों की रक्षा करना रह गया, न कि उनके व्यावसायिक स्वार्थों को प्रोत्साहन या वृद्धि देना। परन्तु १९वीं सदी में जाकर चक्र घूमकर पुनः पूर्वस्थिति पर पहुँच गया और राजदूत के कर्त्तव्यों में से एक प्रमुख कर्त्तव्य स्वदेश के वाणिज्य व्यवसाय-सम्बन्धी हितों की रक्षा तथा उत्कर्ष भी हो गया। आधुनिक युग में जर्मनी ने सर्वप्रथम इसे प्रारम्भ किया। अमेरिका भी जर्मनी के पदचिह्नों पर चलने लगा। शनैः शनैः १९वीं सदी के अन्त तक यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख

१ विस्तृत विवेचना के लिए Satow की Guide to Diplomatic Practice और Oppenheim का ग्रंथ International Law, Vol I देखिए।

सिद्धांत अथवा नियम बन गया। १९वीं सदी में चीन से पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्धों का इतिहास इसका साक्षी है। ब्रिटेन के विदेश-विभागीय कार्यालय में एक वाणिज्य-विभाग की स्थापना सन् १८६६ में सर्व-प्रथम हुई तथा पेरिस में ब्रिटेन ने पहला वाणिज्य-सहचारी (Commercial Attache) सन् १८८७ में नियुक्त किया।

स्वतंत्र वाणिज्य-दूतीय सेवा

आजकल वाणिज्य-दूतीय सेवा (कान्सलर सर्विस) स्वतंत्र रूप से अत्यधिक संगठित तथा सुचारु रूप से संचालित है। कई प्रमुख राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की राजधानियों तथा अन्य प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में अपने "वाणिज्य-दूत" (कान्सल) नियुक्त करते हैं। इनके कुछ विशेष अधिकार रहते हैं जो राजदूत के अधिकारों से भिन्न होते हैं। इनका कार्य-क्षेत्र तथा कार्य-प्रणाली भी भिन्न रहती है। ये दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) वृत्तिमत् वाणिज्य-दूत (Professional Consuls), जिन्हें केवल वाणिज्य-दूत-विषयक कर्त्तव्यों के पालनार्थ नियुक्त किया जाता है। (२) वे जो इन कर्त्तव्यों के निर्वाह के अलावा वाणिज्य-प्रतिनिधि-क्षेत्र में निजी वाणिज्य-व्यवसाय भी करते हैं।

पद के अनुसार इनके चार प्रकार होते हैं।

१—महावाणिज्य-दूत (कान्सल जनरल), २—वाणिज्यदूत (कान्सल), ३—उपवाणिज्यदूत (वाइस कान्सल) तथा ४—वाणिज्यिक अभिकर्ता (कान्सलर एजेन्ट)।

किसी वाणिज्यदूत की अनुपस्थिति में या रुग्णावस्था के समय जो व्यक्ति अस्थायी रूप से उसका कार्यभार सम्हालता है उसे प्रतिवाणिज्य-दूत (Pro-Consul) कहते हैं।

वाणिज्य-दूत के भौगोलिक कार्यक्षेत्र को 'वाणिज्यिक मंडल' (Consular District) कहते हैं। इस क्षेत्र की सीमाएँ बहुधा वे ही रहती हैं जो सम्बन्धित देश के प्रशासकीय जिले या प्रान्त की रहती हैं। कभी कभी एक वाणिज्यदूत का कार्यक्षेत्र किसी एक बड़े नगर या बंदरगाह तक ही सीमित रहता है।

इनका प्रमुख कर्त्तव्य अपने देश तथा देशवासियों के वाणिज्य-व्यवसाय की

रक्षा करना ही नहीं वरन् उसका हर भाँति से उत्कर्ष कराना भी है। कई देशों में (जैसे जर्मनी में) राजनयिक तथा वाणिज्यिक सेवाओं को मिलाकर एक कर दिया गया है। उन्हें विलग-विलग नहीं रखा गया। सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन ने भी ऐसा ही कर दिया है।

राजनयिक अन्य कर्मचारी

आधुनिक विश्व में आर्थिक समस्याएँ ही प्रमुख हैं। अतएव उन्हें ही सुलझाने के लिए नयी-नयी प्रणालियाँ अपनायी जाती हैं। वर्त्तमान समय में वित्त तथा मुद्रासम्बन्धी प्रश्न अधिक संख्या में उपस्थित रहते हैं। इसलिए प्रमुख देश अपने महत्त्वपूर्ण राजदूतावासों में 'वित्त-सहचारी' (Financial Attache') की भी नियुक्ति करने लगे हैं। साथ-ही-साथ वे 'सैनिक सहचारी' (Military Attache'), 'नौसैनिक सहचारी' (Naval Attache') और 'वायुसैनिक सहचारी' (Air Attache') नामक कर्मचारियों की भी नियुक्ति करने लगे हैं। इनके कार्यक्षेत्र और कर्त्तव्यों के विषय में विस्तार से लिखने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती क्योंकि उनके नामों से ही यथेष्ट पता चल जाता है। संक्षेप में इतना ही कह देना उचित होगा कि ये अपने अपने विषय के विशेषज्ञ रहते हैं। इसलिए राजदूतों को तद्विषयक उचित और हितकर सलाह देते हैं तथा पथ-प्रदर्शन करते हैं।

७

राजनय के विशिष्ट रूप

विभिन्न देशों के राजनय के लक्षणों में समानता नहीं रहती और इस भेद का कारण यह है कि प्रत्येक देश के राष्ट्रीय चरित्र, परम्परा तथा आवश्यकताओं में भी अन्तर रहता है। इनका प्रभाव देश की वैदेशिक नीति पर पहले पड़ता है और चूंकि राजनय वैदेशिक नीति से विलग नहीं है इसलिए यह प्रभाव राजनय में भी परिलक्षित होता है। इसी दृष्टिकोण से इस अध्याय में राजनय के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकारों की चर्चा की गयी है। प्रत्येक प्रकार के प्रारम्भ में उस देश के राजनयिक इतिहास की अति सूक्ष्म रूपरेखा दी गयी है ताकि पृष्ठभूमि अच्छी तरह समझ में आ जाय।

१–ब्रिटिश राजनय

ब्रिटेन एक बहुत छोटा देश है और चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है किन्तु सुदूरवर्ती देशों पर राज्य करना उसके भाग्य में था। उनकी तथा अपनी रक्षा करने की स्वाभाविक चिन्ता उसे रही है। इसी से सम्बन्धित एक तथ्य और है—वैदेशिक वाणिज्य-व्यापार के विस्तार, स्वातंत्र्य तथा रक्षा की चिन्ता, क्योंकि वह उसका जीवन-स्रोत है। इस सबके लिए ब्रिटेन को अपनी सामुद्रिक शक्ति अत्यधिक प्रबल बनानी पड़ी और यूरोपीय महाद्वीप का अन्य कोई देश किसी तरह प्रमुख सामुद्रिक शक्ति न बन पाये, इस ओर ब्रिटेन सदैव प्रयत्नशील रहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'शक्ति-संतुलन' की ब्रिटिश वैदेशिक नीति का उद्भव हुआ। किन्तु यदि ब्रिटेन अपनी सामुद्रिक शक्ति को अपने स्वार्थ के लिए ही बढ़ाने की बात प्रकट करता तो उसका संगठित विरोध होता। इसी लिए ब्रिटेन को शक्ति-संतुलन की नीति का उद्देश्य 'समस्त छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा' बताना पड़ा अर्थात् स्वार्थ को परार्थ का—आदर्शवादिता का—स्वरूप देना पड़ा। परार्थ के लिए चिन्ता प्रकट करना ब्रिटेन की नीति मात्र

है न कि कोई वास्तविक गुण। स्वयं एच. निकलसन महोदय झिझकते हुए और कुछ दूसरे ही ढंग से स्वीकार करते हैं कि लोकप्रियता की झोंक में तथा सर्व-साधारण की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से ब्रिटिश नीतिज्ञ (Statesmen, राजनेता) इतनी धूर्तता पर उतर आते हैं कि स्वराष्ट्र के स्वार्थों की रक्षा या प्राप्ति करते हुए भी वे ऐसा प्रकट करते हैं मानो वे किसी सिद्धान्त की रक्षा कर रहे हों।[1] एक साधारण-सा उदाहरण लीजिए। अमेरिकी स्वतंत्रता के बाद जब अमेरिका का वैदेशिक वाणिज्य विस्तृत हो रहा था और उसकी सामुद्रिक शक्ति नित्यप्रति अधिकाधिक बढ़ती जा रही थी, तब न तो ब्रिटेन को कोई चिन्ता हुई और न उस प्रगति को उसकी शक्ति-संतुलन की नीति के विपरीत ही समझा गया। कारण स्पष्ट हैं। उस समय अमेरिकी सामुद्रिक शक्ति-विस्तार से ब्रिटेन के राजनीतिक अथवा व्यापारिक साम्राज्य के अन्त होने की संभावना नहीं थी और न स्वयं ब्रिटेन की स्वतन्त्रता को ही कोई भय था, क्योंकि दोनों देशों का वाणिज्य-विस्तार-क्षेत्र प्रायः अलग-अलग था। परन्तु बीसवीं सदी के तृतीय चरण में परिस्थिति कुछ दूसरी हो गयी है। मध्य पूर्व में ब्रिटिश तथा अमेरिकी वाणिज्य-हितों की खुली टक्कर हो चुकी है। स्वेज नहर के राष्ट्रीय-करण के बाद की घटनाओं से यह स्पष्ट है।

शक्ति-संतुलन की नीति का आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है किन्तु वर्त्तमान परिस्थितियों में संसार के असाम्यवादी क्षेत्र का नेतृत्व अमेरिका के हाथों में चला गया है और वह अपने ही ढंग से इस नीति का प्रयोग कर रहा है। इसके संचालन में ब्रिटेन का अभिनय भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु नेतृत्व उसके हाथ में नहीं रह गया है। अमेरिका ने 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) के सिद्धान्त का शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त से मेल कर दिया है। अर्थात् वह सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त द्वारा शक्ति-संतुलन करने का प्रयास कर रहा है और ब्रिटेन को सामूहिक सुरक्षा को अपनाना पड़ रहा है। तभी "यूरोपीय प्रतिरक्षा-संधि" (European Defence Treaty) में ब्रिटेन सम्मिलत हो गया है और इसका उत्तरदायित्व उसने सम्हाल लिया है।

1. "In extreme cases......all too readily succumb"
Diplomacy, Nicolson, p. 97

ब्रिटिश राजनय को अधिकांशतः छलपूर्ण माना जाता रहा है। वास्तव में वह ऐसा है या नहीं, इस पर मतभेद है। पर उसके छलकपटयुक्त प्रतीत होने का प्रमुख कारण है ब्रिटेन की वैदेशिक नीति और इसलिए राजनय ने न तो कभी कोई दीर्घकालीन लक्ष्य अपने सामने रखा और न कभी अज्ञात भविष्य में पैदा होनेवाली काल्पनिक परिस्थितियों के अनुरूप अपनी रूपरेखा निर्धारित की। वह तो जैसे-जैसे नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती जाती हैं वैसे-वैसे अपने हितों का, विशेषकर वाणिज्यिक तथा प्रतिरक्षात्मक हितों का—शक्ति-संतुलन के रूप में—ध्यान रखते हुए उनके सम्बन्ध में निर्णय करते हुए यथोचित कार्यवाही करता जाता है। इस सिद्धांत का अनुकरण पिछले सौ सवा सौ वर्षों में ब्रिटेन के प्रत्येक बड़े नीतिज्ञ ने किया है। स्वयं प्रधान मंत्री ग्लैड्सटन के शब्द इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं—"अन्य शक्तियों के समक्ष अपने अभिमत प्रकट करके उसे (ब्रिटेन को) स्वयं अपने विकल्प की स्वतंत्रता का अन्त या परिसीमन नहीं कर लेना चाहिए।"

ब्रिटिश राजनय के छलपूर्ण प्रतीत होने का एक कारण यह भी है कि किसी प्रश्न पर वह प्रारंभ में तो आदर्शवाद का राजमार्ग पकड़ता है और फिर धीरे-धीरे यथार्थवादिता अर्थात् स्वार्थ की पगडंडी पर चल पड़ता है। संभवतः यह आदर्शवादिता केवल सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने की इच्छा से प्रकट की जाती हो।

ब्रिटिश राजनय छलयुक्त हो अथवा न हो किन्तु वह यथेष्ट रूप से व्यावहारिक या अवसरवादी अवश्य है क्योंकि 'शक्ति-संतुलन' पर आधारित वैदेशिक नीति, सरलता से किसी बात के लिए वचनबद्ध न होना, तर्क के प्रति अरुचि और जनतांत्रिक शासन-प्रणाली—इन सबके संयुक्त प्रभाव से अवसरवादी राजनय ही उत्पन्न हो सकता है। चूँकि ब्रिटिश राजनय अवसरवादी अर्थात् अत्यधिक व्यावहारिक है अतएव उसमें स्थितिस्थापकत्व अर्थात् लोच भी है। ब्रिटेन की जनतांत्रिक शासन-प्रणाली के कारण उसकी वैदेशिक नीति या राजनय में अनिश्चितता एवं संभ्रम का दोष भी है। इन अनिश्चितता, अस्पष्टता, भ्रामकता आदि के कारण कोई भी राजनय संदेह की दृष्टि से देखा जाता।

ब्रिटिश नीतिज्ञ आवश्यकता से अधिक आशावादी होते हैं। वे दूसरों की

स्थिति को अपने निजी दृष्टिकोण से देखते हैं और अपने तौर-तरीकों को दूसरों के तौर-तरीके समझते हैं। इसका दुष्परिणाम यह है कि वे संकटकाल में भी वस्तु-स्थिति की गंभीरता का अनुभव नहीं कर पाते, उलटे आत्मतुष्टि अथवा आत्म-प्रवंचना में ही पड़े रहते हैं। इस दोष का राजनयिक क्षेत्र पर क्या प्रभाव पड़ता है ? यदि कोई ब्रिटिश राजनयिक दूत अपने दीर्घकालीन प्रवास और अनुभव के आधार पर सम्बन्धित देश की सही-सही मनोवैज्ञानिक परिस्थिति से अपने विदेशमंत्री या प्रधान मंत्री को अवगत कराकर भविष्य में किसी प्रश्न-विशेष पर अत्यधिक सावधानी बरतने की सलाह और चेतावनी देता है तो उस पर ध्यान नहीं दिया जाता। इसका सबसे नया उदाहरण भारतस्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त का है जिसने कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान के प्रति ब्रिटेन की पक्षपातपूर्ण व अदूरदर्शी नीति का घोर विरोध किया और यह विरोध स्वयं लंदन जाकर, प्रधान मंत्री से प्रकट किया। किन्तु स्पष्टत: उनकी सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। परिणामस्वरूप अपने उच्चाधिकारियों को प्रसन्न करने तथा लोकप्रिय बने रहने के उद्देश्य से अधिकांश राजनयिक प्रतिनिधि निष्क्रिय रहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

ब्रिटिश राजनय में धूर्तता एक अनोखा रूप धारण करती है; दूसरे को क्षति पहुँचाकर स्वयं आहत होने का ढोंग करना। इस स्वाँग से अपने कार्य-कलापों पर पर्दा डाला जाता है, अपना स्वार्थ साधन हो जाता है और दूसरों की सहानुभूति भी प्राप्त हो जाती है। ब्रिटिश राजनय इसमें दक्ष है।

बहुधा मामला बकरी के बच्चे (मेमना) के विरुद्ध भेड़िया की शिकायत का ही रहता है। परन्तु वह (ब्रिटिश राजनय) आहत का वेष अपनाना ही पसन्द करता है।[1] इस कला में पाकिस्तान ने ब्रिटेन का अच्छा अनुकरण किया है और कश्मीर प्रश्न के सम्बन्ध में यही नीति अपनायी है। स्वयं तो कश्मीर पर आक्रमण किया और चीख-चिल्लाहट यह मचायी कि भारत ने पाकिस्तान पर आक्रमण कर दिया है। मजे की बात यह है कि उसकी चिल्लाहट पर पूरा विश्वास करके अश्रु बहानेवाले भी इस संसार में बहुत मिल गये। विश्व-इतिहास

1. Principles and Practice of Diplomacy—K. M. Panikkar, p. 72

में इसके और भी अनेक उदाहरण मिलेंगे। नात्सी जर्मनी पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करने तथा उन्हें हड़पने के लिए यही तर्क प्रस्तुत करता था। उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की कथा बिलकुल ताज़ी है। भारत तथा दक्षिणी अफ्रीका के वर्त्तमान तनावपूर्ण सम्बन्धों तथा दक्षिणी अफ्रीका द्वारा प्रस्तुत तर्कों में भी यही बात मिलेगी। द० अफ्रीका स्वयं तो साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का है और इसी लिए भारतीयों तथा अन्य अश्वेत जातियों को नष्ट करने पर तुला हुआ है किन्तु उलटे भारत पर यह दोषारोपण करता है कि वह द० अफ्रीका में अपना साम्राज्य फैलाना चाहता है।

ब्रिटिश राजनय का प्रमुख गुण यह है कि वह 'वणिक्-सिद्धान्त' अर्थात् 'उदार दृष्टिकोण' पर आधारित है और इसलिए वह कुशल व्यापारी की तरह अपने स्वार्थ को दृष्टिगत रखकर मध्यम मार्ग अर्थात् समझौते की नीति को अपनाता है और इतर पक्ष में अपनी साख के प्रति विश्वास उत्पन्न करना प्रथम कर्तव्य समझता है। ब्रिटिश राजनय में यह गुण किन कारणों से और किन परिस्थितियों में आ गया ह उनका अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित विवरण श्री डब्लू० एन० मेडलीकॉट ने चैम्बर्स ऐनसाइक्लोपीडिया, नवीन संस्करण (जिल्द ४) में इस प्रकार दिया है—

"अनेक कारणों ने—संसदीय शासन की आदान-प्रदान क्रिया, एक प्रभवत् सैन्य जाति का अभाव, सन् १६८८ की क्रांति के समय से घरेलू राजनीति से असमाधेय प्रश्नों का लोप हो जाना, १६वीं सदी से यूरोपीय महाद्वीप पर राजक्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को त्याग देना, पीढ़ी-दर-पीढ़ी सफल व्यावसायिक उद्यम के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न अनुग्राही आदतें, एक विशाल साम्राज्य के परिरक्षण के हेतु शान्ति की आवश्यकता—इन सबने सम्मिलित होकर ही यह धारणा उत्पन्न की है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सूक्ष्म और उलझे हुए ढाँचे को कम-से-कम कठिन आघात पहुँचाये जायँ।"

श्री निकल्सन ने ब्रिटिश राजनय के अनेक गुण बताये हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—सहिष्णुता, विश्वसनीयता, आदर्शवादिता तथा यथार्थवादिता में संतुलन, निश्चयात्मकता, स्थितिस्थापकत्व, विनम्रता तथा साहस, धैर्य,

दर्पोक्ति का अभाव, ईमानदारी से अपनी सरकार की नीति की व्याख्या करना एवं वैदेशिक परिस्थितियों का विपुल ज्ञान।[1]

परन्तु यह लेखक श्री निकल्सन के मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। ब्रिटिश राजनय में निश्चयात्मकता नहीं है तथा किसी सीमा तक परराष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक स्थिति से अनभिज्ञता भी रहती है। साथ ही श्री निकल्सन का यह कथन कि ब्रिटिश राजनय का एक गुण "न्यायोचित व्यवहार" (Fair-dealing) अथवा 'ईमानदारी-पूर्ण वर्ताव' भी रहा है, तथ्यों की कसौटी पर सही नहीं उतरता। भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों का विगत (स्वतन्त्रता के पूर्व का) इतिहास इस बात का साक्षी है। अन्य एशियाई देशों के साथ उसके जो राजनीतिक सम्बन्ध रहे हैं उनका पर्यवेक्षण भी इसकी पुष्टि करता है। भारत-ब्रिटिश सम्बन्धों के विषय में यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन भारतीय राज्यों से ब्रिटिश शासन के राजनयिक दूतों का नहीं वरन् ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधियों का सम्बन्ध था। परन्तु इस लचर तर्क से न तो ब्रिटिश राजनयिक चरित्र पर पर्दा डाला जा सकता है और न यह बात छिपायी जा सकती है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधियों या कर्मचारियों अथवा बाद के गवर्नर जनरलों के भर्त्सनीय कार्यकलापों को तात्कालिक ब्रिटिश शासकों या पार्लमेण्ट का पूरा-पूरा समर्थन प्राप्त रहता था। और फिर स्वेज-नहर राष्ट्रीयकरण के दरम्यान व उसके बाद की लज्जास्पद घटनाओं और ब्रिटिश शासन के हथकंडों के विषय में तो सभी को ज्ञात हो चुका है।

२—जर्मन राजनय

जर्मन जाति व्यक्ति की अपेक्षा राज्य (State) को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझती है, क्योंकि राज्य उसकी संगठित और सामूहिक एकता का प्रतीक है और इसलिए राज्य के लिए वह सर्वस्व बलिदान कर सकती है। इस मनःस्थिति का प्रमुख स्रोत एवं कारण यह है कि जर्मन जाति की भौगोलिक, ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक किसी भी दृष्टि से सुनिश्चित रूपरेखा नहीं

1. Diplomacy—H. Nicolson, p. 143-144.

रही है। अतएव जर्मन जाति की मनोवैज्ञानिक स्थिति "अनिश्चितता" से और उद्विग्नता से परिपूर्ण रही है। जर्मन जाति रोमन काल से ही कई हिस्सों में विभक्त हो चुकी थी। यह परिस्थिति बिस्मार्क के समय तक बनी रही। इस दरम्यान जर्मन जाति बराबर एक होना चाहती रही क्योंकि उसके अन्तस्तल में एक होने की प्रबल आकांक्षा थी परन्तु बारम्बार के प्रयत्नों पर भी वह अपने एकीकरण में सफलीभूत न हो सकी। इस असफलता का कारण यह था कि वह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त थी—प्रशा, आस्ट्रिया तथा अन्य अनेक छोटे-छोटे राज्य। जब नेपोलियनीय युद्ध (१८वीं-१९वीं सदी में) आये तो उनमें भाग लेने पर प्रशा एक महान् शक्ति के रूप में गिना जाने लगा परन्तु जब तक आस्ट्रिया शक्तिशाली था, तब तक जर्मन जाति का संगठित होना संभव नहीं था। यह कार्य बिस्मार्क ने अपनी "रक्त और लौह" (Blood and Iron) नामक नीति के द्वारा पूर्ण किया। सन् १८६२ में प्रशा का प्रधान मंत्री बनते ही बिस्मार्क ने संसद सदस्यों के समक्ष भाषण किया कि "आज के महत्त्वपूर्ण प्रश्न भाषणों और बहुमतीय प्रस्तावों से हल नहीं होंगे—वरन् रक्त एवं लौह से होंगे।"[1] शताब्दियों के बाद सर्वप्रथम जर्मन जाति की भौगोलिक एवं राजनीतिक स्थिति पर्याप्त रूप से सुनिश्चित रूप में प्रकट हुई। प्रधान मंत्री बनने के ९ वर्षों के भीतर ही बिस्मार्क ने प्रशा के प्रमुख प्रतिस्पर्धी और महान् शक्तिशाली आस्ट्रिया को (जून-जुलाई १८६६ ई० में) परास्त करके जर्मनी को यूरोप का सर्वशक्तिशाली राष्ट्र बना डाला। "यह सब वह इसलिए कर सका कि वह शस्त्रास्त्रों का राजनय से संयोग करना भली भाँति जानता था और ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस को मित्र बनाये रहा।"[2]

चूँकि बिस्मार्क ने जर्मन जाति को सैन्य शक्ति के बल पर संगठित कर दिया था इसलिए स्वाभाविक रूप से 'सैनिक राज्य' (Military State) तथा सैन्य-राजनय में उसकी अटूट भक्ति हो गयी और उसके समक्ष व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं रह गया। इस मनोभावना को उद्दीप्त और पुष्ट करने में जर्मन राजनीतिक दार्शनिकों का भी बड़ा योग रहा है। फ़िश्टे (Fichte)

1. Diplomatic History—1713-1933, Sir Charles Petric, p. 210
2. Ibid, p. 219

ने कहा कि जर्मन जाति "अनादिकालीन" है। हीगेल (Hegel) ने कहा कि युद्ध "शाश्वत और नैतिक" है। सीबर्ग ने कहा "आत्मरक्षा की भावना को जिस प्रकार हम सीमित कर देते हैं वही हममें और अन्य राष्ट्रों में अन्तर है।" इस सबका परिणाम यह हुआ कि अन्य जातियों को सुसंस्कृत करने का भार जर्मन जाति अपने ही कंधों पर रखा हुआ मानने लगी। १९वीं सदी के अंतिम वर्षों से ही जर्मनी की दृष्टि देश की सीमाओं के परे विश्व में विचरण करने लगी। उसकी नीति 'विश्व-नीति' (Welt Politic) हो चली।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् परास्त जर्मन जाति को पुनः संगठित करके उसमें विशुद्ध आर्यत्व की सम्मानपूर्ण भावना को जाग्रत एवं परिव्याप्त करने का कार्य हिटलर के नात्सियों ने किया। नात्सीवाद के प्रमुख विचारकों, रोसेनबर्ग और हिटलर दोनों ने आर्य जाति को संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति बताया है और जर्मन जाति को आर्यों की सर्वप्रमुख शक्ति माना है, क्योंकि उनके मत में वही विश्व-विजय कर सकती है। नात्सीवाद के अनुसार एक राष्ट्र एक ही जाति का बन सकता है। हिटलर के अनुसार "राज्य (State) उन मनुष्यों का एक समुदाय है जिनकी शारीरिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति में समता है, और जो उन जातिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित हैं जिन्हें पूर्ण करने के लिए उस जातिविशेष को विधाता का आदेश प्राप्त हुआ है।" "इस राष्ट्र का भी एक अलग स्वरूप है और उसका नेता ही राष्ट्र का मूर्तिमान् स्वरूप है।" विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा के कारण नात्सियों की सर्वाधिक आस्था सैन्य शक्ति में थी और सैनिक शिक्षण प्रत्येक जर्मन के लिए अनिवार्य था। जर्मन जाति को संसार में सर्वाधिक कीर्तिमान् बनाने के लिए उसे जाति के नाम पर संगठित करने का बीड़ा हिटलर ने उठाया। अपनी आत्मकथा "मीन काम्फ" (Mein Kampf) में, जिसे उसने सन् १९२४ में लिखा, हिटलर ने जर्मनी की तत्कालीन सीमाओं के बाहर अन्य देशों में बिखरी हुई अल्पमतीय जर्मन जाति को जर्मनी में सम्मिलित करने का दावा किया।[1] हिटलर के नेतृत्व में नात्सियों का सिद्धान्त यह था कि यदि किसी को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति युद्ध

1. International Relations Between the Two World Wars—1919 to 1939, by E. H. Carr, (p. 198)

के द्वारा करनी है तो उसे शक्तिमान् होना चाहिए, यदि उनकी प्राप्ति शान्तिपूर्ण ढंग से करनी है तो और भी अधिक शक्तिशाली होने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जर्मनी की नीति 'शक्तिनीति' (Macht Politic i. c. Power Policy) रही है। परिणामस्वरूप उसका राजनय पीछे अध्याय ४ में बताये हुए "योद्धा-राजनय" को अपनाकर चलता है जिसके दो प्रमुख लक्षण हैं—

१—व्यक्ति की अपेक्षा राज्य का अधिक महत्त्व है और—

२—संधिवार्ता में भी छल-प्रयोग करना या उसकी धमकी देना। योद्धा-सिद्धांत का अनुयायी देश उसके अनुकूल आकस्मिक बल-प्रयोग के द्वारा दूसरे पक्ष को भयभीत और विवश करके अथवा ऐसे बल-प्रयोग का केवल भ्रम उत्पन्न कर संधि-वार्ता को अपने अनुकूल या पक्ष में बनाता है। इसे प्रोफेसर मावट ने "आकस्मिक राजनय" कहा है। हिटलर इस कला का विशेषज्ञ था।

इस कला में केवल जर्मनी ही प्रवीण रहा हो, ऐसी बात नहीं है। आजकल संधिवार्ताओं में अथवा अन्य पारस्परिक चर्चाओं में अमेरिकी शिविर तथा रूसी शिविर दोनों के प्रतिनिधि बल-प्रयोग किसी न किसी रूप में करते हैं और इस प्रकार दूसरे पक्ष पर अनुचित दबाव के द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं। हिंदचीन की जटिल समस्या को सुलझानेवाले प्रसिद्ध जेनेवा-सम्मेलन के समय जब कि हिंदचीन के गृहयुद्ध व देश के भविष्य के विषय में गंभीर वार्ता चल रही थी, वियतनाम और वियत-मिन्ह दोनों ने एकाएक और भी भयंकरता से लड़ना शुरू कर दिया, ताकि युद्ध-स्थल में अपना ऊँचा हाथ रहे तो जेनेवा संधिवार्ता में भी विजय रहेगी और पश्चिमी राष्ट्रों की आशा पर कुठाराघात करते हुए हो ची मिन्ह की सेनाओं ने डियेनबियेन फू पर फ्रांसीसी सेनाओं को बुरी तरह परास्त कर दिया एवं फ्रांस के मिथ्याभिमान को धराशायी कर दिया।

जर्मन जाति की सैन्य शक्ति में आस्था होने के कारण जर्मनी की वैदेशिक नीति भी अधिकांशतः सैनिक नीति से प्रभावित रहती है। अतएव जर्मन राजनयिक प्रतिनिधियों के अत्यन्त योग्य, दूरदर्शी, विवेकशील और संयत एवं अनुभवी होने पर भी उनकी नेक सलाहों पर उनके ऊपर के अधिकारियों ने कोई ध्यान नहीं दिया, उलटे उन्हें कायर समझा गया और सावधानी बरतने के सुझाव

को हेय माना गया। उनकी अनुशासनात्मकता तथा राज्यनिष्ठा पर भी संदेह किया जाता रहा है। परिणाम संसार ने पिछले ५०-७५ वर्षों में स्पष्ट देखा।

३–फ्रांसीसी राजनय

क्रांतिविषयक और नेपोलियनीय युद्धों का जब अन्त हुआ तो फ्रांस अत्यधिक श्रान्त, अशक्त और हतोत्साह हो चुका था और यह श्रान्ति ऐसी थी कि उससे फ्रांस फिर कभी न पनप सका। इसके बाद सन् १८१५ की वियेना कांग्रेस में मित्र राष्ट्रों ने, फ्रांस की सीमाओं पर शक्तिशाली राज्य रहें, ऐसी नीति अपनायी। जर्मनी और इटली के संगठित राज्यों के रूप में प्रकट हो जाने पर यह सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में अत्यधिक सफल हुआ। सन् १८७० में फ्रांस प्रशा के द्वारा परास्त हुआ और अन्य अधिक शक्तिशाली शत्रु राज्यों से घिर गया।[१] तब से फ्रांस की वैदेशिक नीति का चरम लक्ष्य एक ही रहा है - अपने पूर्वी पड़ोसी राज्य जर्मनी की सैन्यशक्ति को अधिक न बढ़ने देना, उससे सदा भयभीत रहना और अपनी सीमा को राइन नदी तक विस्तृत करने की उत्कट आकांक्षा एवं प्रयास। परिणामस्वरूप उसकी वैदेशिक नीति तनावपूर्ण, अविच्छिन्न, कठिन और लोचविहीन (Inelastic) हो गयी है। अपने पूर्वी पड़ोसी को संदेहात्मक दृष्टि से देखना और उससे सदैव भयभीत रहना; फ्रांस का प्राय: स्वाभाविक गुण बन गया है क्योंकि राइनलैंड क्षेत्र को प्रत्येक (फ्रांस और जर्मनी) अपने अधिकार में रखना चाहता है। इन सबका दूषित प्रभाव फ्रांस के राजनय पर भी पड़ा क्योंकि वह मुख्यत: इस संदेह और भय को दूर करने में ही प्रयत्नशील रहा है। पिछले दोनों विश्वयुद्धों में जर्मनी से फ्रांस को ही सर्वाधिक क्षति हुई है और उसकी पुनरावृत्ति को रोकना ही फ्रांस का चरम लक्ष्य है। फ्रांस 'यूरोपीय प्रतिरक्षा संधिसंघटन' (European Defence Treaty Organization) को भी बारंबार इसी लिए टालता रहा कि उक्त संघटन जर्मनी को समान पदधारी सदस्य के रूप में अपनाना चाहता था और उसका पुन:शस्त्रीकरण करना चाहता था। अभी हाल में फ्रांस ने उसे

1. Diplomatic History 1713-1933, Sir Charles Petrie p. 174

स्वीकार अवश्य कर लिया है परन्तु अमेरिका के दबाव के कारण, और सो भी जर्मनी के निर्बंध पुनःशस्त्रीकरण पर अनेक बंधन लगवाने के पश्चात् ही किया है ।

वर्तमान राजनय का उद्भव यूरोपीय राजनीति से हुआ है और सन् १७८९ की रक्तिम क्रांति के पूर्व तक फ्रांस यूरोप का—सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दोनों दृष्टियों से—सर्वश्रेष्ठ अनुकरणीय राज्य माना जाता था । अतएव राजनय के स्वरूप पर फ्रांस का ही सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है । इस प्रकार फ्रांस के राजनयज्ञों के पीछे एक अत्यन्त दीर्घकालीन परम्परा है जिसका प्रभाव उनकी राजनयिक प्रणाली, अनुभव, सुपरिष्कृत आचार-व्यवहार और आकर्षक विषय-निर्वाह में स्पष्ट परिलक्षित होता है। उनका व्यवहार सम्मान-पूर्ण तथा निश्चयात्मक रहता है और वे अनुनयात्मक प्रवर्तन में भी स्वभावतः दक्ष होते हैं । किन्तु उनका सबसे बड़ा दोष है अत्यधिक आत्माभिमान, जिसके फलस्वरूप उनमें असहिष्णुता भी पायी जाती है। उन्हें स्वदेश हित के आगे दूसरों का हित नगण्य दीखता है। इससे उनका दृष्टिकोण नितान्त एकपक्षीय हो जाता है और उन्हें दूसरों की भावनाओं तथा दृष्टिकोण का ध्यान ही नहीं रह जाता । उनमें राजनीतिक भावुकता भी नहीं होती क्योंकि वे अत्यधिक तर्कप्रिय होते हैं ।[1] अपने बौद्धिक स्तर की तुला पर दूसरों को तौलने के कारण वे दूसरों की त्रुटियों या दोषों को हेय दृष्टि से देखते हैं, न कि सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से । इस सबका परिणाम यह होता है कि फ्रांसीसी राजनय प्रभावहीन ही रह जाता है । परन्तु यह अपवाद-रहित तथ्य नहीं है क्योंकि प्रत्येक नियम का अपवाद तो होता ही है ।

४—इटालियन राजनय

रोमन साम्राज्य के बाद से इटली अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था । कदाचित् इसी लिए आस्ट्रिया के प्रसिद्ध नीतिज्ञ मेटरनिक ने व्यंग्य की इच्छा से इटली को केवल "भौगोलिक अभिव्यक्ति" (geographical expression) ही कहा था । किन्तु इटालियनों के अनेक टुकड़ों में बँटे रहने पर भी उनकी राष्ट्रीयता की भावना समाप्त नहीं हुई थी । सर्वप्रथम विश्वविख्यात योद्धा नैपोलियन ने समस्त इटली को किसी न किसी रूप में

1. Diplomacy, H. Nicolson, p. 151

फ्रांसीसी शासन के अन्तर्गत लाकर राजनीतिक एकरूपता दी। नैपोलियन की पराजय के पश्चात् वियेना कांग्रेस में यूरोपीय शक्तियों ने सन् १८१५ में फ्रांस का प्रभुत्व तो इटली से समाप्त कर दिया परन्तु उसके साथ ही लोम्बार्डी और वेनिस पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। शेष इटली को १८वीं सदी की तरह छोटे-छोटे भागों में विभक्त छोड़ दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आगामी पचास वर्षों में समस्त इटली में प्रचण्ड राजनीतिक आन्दोलन व्याप्त रहा। इस ज्वाला को भड़काने का सर्वाधिक श्रेय मैत्सिनी (Mazzini) और वर्डी (Verdi) को है। सन् १८४८ में फ्रांस में क्रान्ति हुई और आस्ट्रिया की राजधानी वियेना में भी क्रान्ति उसी समय हुई जिससे साम्राज्यवादी मैटरनिक का पतन हुआ। इस सुअवसर को पाकर इटली में क्रान्ति का विस्फोट हुआ जिसका नेतृत्व सारडीनिया राज्य के शासक चार्ल्स ऐलबर्ट ने सम्हाला। यद्यपि आस्ट्रियन सेना के सम्मुख उसे असफलता हाथ लगी तथापि अग्नि पूर्णतया बुझ नहीं सकी।

वास्तव में इटालियन राज्य को सर्वप्रथम एक राजनीतिक संगठन में बाँधनेवाला सारडीनिया राज्य का प्रधान मंत्री, महान् नीतिज्ञ और अद्वितीय राजनयज्ञ काउन्ट कावूर (Count Cavour) था। कावूर ने पहले प्रचार द्वारा "इटालियन प्रश्न" (The Italian Question) अर्थात् इटालियन स्वतंत्रता के प्रश्न को समस्त पश्चिमी यूरोप में बड़े महत्त्वपूर्ण रूप में प्रदर्शित किया। फिर क्रीमियन युद्ध (सन् १८५५) में रूस के विरुद्ध तुर्की, इँग्लैंड और फ्रांस का साथ देकर उनकी मित्रता प्राप्त की और अन्त में फ्रांस के सहयोग से आस्ट्रिया को परास्त किया।[1] कावूर ने जिस राजनय का प्रयोग किया वह सारडीनिया राज्य की ही नहीं वरन् समस्त इटालियन राज्यों की परम्परागत नीति रही है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में अवसर देखकर कभी एक पक्ष का साथ देना और कभी उसके विरोधी पक्ष का और परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने उद्देश्य—आत्म-रक्षा एवं कुछ प्राप्ति—की पूर्ति करना।[2] उपर्युक्त युद्ध

1. Quot. from M. de La Gorce on 126 of 'A History of European Diplomacy' 1815-1914, by Prof Mowat.
2. Diplomatic History, 1713-1933 (p. 167), by Charles Petric

और राजनय के शस्त्रास्त्रों का योग सौभाग्य की प्रबल शक्ति से ही हुआ।[1] तभी कावूर को सफलता ही सफलता हाथ लगी। इसी कारण से बिस्मार्क ने व्यंग्यपूर्वक तथा क्षुब्ध होकर इटालियनों के विषय में कहा था कि वे युद्ध-स्थल में पूतिमांस-भक्षी कौओं की भाँति हैं जो अपने भोजन की व्यवस्था दूसरों से करवाते हैं।

वर्तमान इटली की राजनयिक नीति वही है जो इटालियन राज्यों की ऊपर बतायी गयी है। स्वार्थ-सिद्धि उसका परम उद्देश्य है और उसकी पूर्ति के लिए उसे पूर्णतया चापल्य एवं अवसरवादिता का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इस स्वार्थ-सिद्धि के लिए वह कुछ भी कर सकती है। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े की परिस्थिति में वह दोनों विरोधी पक्षों को एक साथ सहयोग का आश्वासन दे सकती है और इस प्रकार अपनी तटस्थता अथवा सहयोग के लिए जो पक्ष सबसे बड़ा मूल्य चुकाने को तैयार हो उसी का साथ देती है किन्तु अपनी हानि होते देखकर प्रबल पक्ष का साथ देने लगती है। उसकी स्वार्थसिद्धि सर्वाधिक तब होती है जब कि दोनों पक्षों की शक्ति में ऐसा संतुलन हो कि उसका स्वयं का सहयोग जिस पक्ष को मिले उसी का पल्ला भारी हो जाय। इस प्रकार "राजनय पर शक्ति को आधारित करना न कि राजनय को शक्ति पर",[2] यही इटालियन प्रणाली रही है और इसी के द्वारा इटली अपने को बड़ी शक्ति के रूप में प्रकट कर सका, भले ही वास्तव में वह शक्तिशाली न रहा हो।

कावूर के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने उसके द्वारा पैदा किया हुआ यह भ्रम सफलतापूर्वक बराबर बनाये रखा कि इटली एक महाशक्ति है, यद्यपि बात वास्तव में ऐसी नहीं थी। किन्तु फासिस्ट इटली मुसोलिनी के नेतृत्व में यह सत्य भूल गया—स्वयं मुसोलिनी की इस उक्ति को भूल गया कि "वैदेशिक नीति कभी मौलिक नहीं होती। उसका निश्चय एक विशेष क्रम के भौगोलिक, ऐतिहासिक और आर्थिक तत्त्वों के द्वारा होता है," और अपने को वास्तव में

1. A History of European Diplomacy, 1815-1914, by Prof. Mowat (P. 125)

2. Diplomacy, H. Nicolson, p. 152

महाशक्ति समझकर साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा पूरी करने लगा।[1] इसलिए प्रारम्भ में महान् शक्ति की महत्त्वाकांक्षाएँ होते हुए भी उसकी यह चपल अस्थिर नीति उस समय समाप्त हो गयी जब कि मुसोलिनी ने जर्मनी की शक्ति-नीति को अपना लिया। परिणाम इटली का पराभव हुआ।

इटालियन राजनयज्ञ–नीतिज्ञ संधिवार्ता की कला में विशेष रूप से दक्ष होते हैं। किसी देश से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वे पहले उस देश से अपने सम्बन्ध बिगाड़ लेते हैं और फिर उन सम्बन्धों को सुधारने के लिए आह्वान करते हैं। बस इस सम्बन्ध-सुधार के आश्वासन के बदले में वे अपनी मनोवांछित वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी संधिवार्ता को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, इटालियन राष्ट्र में इतर पक्ष के विरुद्ध बनावटी विद्वेष और शत्रुत्व की भावना को जाग्रत करना। द्वितीय, उस देश के विरुद्ध जिससे संधिवार्ता करनी है कुछ न कुछ उत्पात मचाये रखना। तृतीय, ऐसी सुविधा या वस्तु अन्य पक्ष से माँगना जिसे लेने की वास्तविक इच्छा तो नहीं है परन्तु जिसे छोड़ देने पर उस अन्य पक्ष से अभीष्ट प्रतिफल सहज ही मिल जायगा। साथ ही यदि कोई आशा यहाँ नहीं दीखती तो इस इतर पक्ष के विरोधी पक्ष से संधिवार्ता प्रारम्भ करने का संकेत भी कर दिया जाता है।[2]

५––अमेरिकन राजनय

अमेरिकन राजनय से अभिप्राय संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनय से है, यद्यपि उसे संक्षेप में अमेरिका ही कहा जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का जन्म सन् १७८३ में हुआ और इसी लिए उसे "अठारहवीं सदी का बालक" भी कहा जाता है। यद्यपि आज वह विश्व का सर्वशक्तिशाली देश है, तथापि वैदेशिक नीति और राजनयिक क्षेत्र पर उसके शैशव की स्पष्ट छाप है। सन्

१ फासिस्टवाद का एक प्रमुख सिद्धांत यह है कि राष्ट्र सत्ता सर्वोपरि है और व्यक्ति का उसके समक्ष कोई महत्त्व नहीं। राष्ट्र की चरम सत्ता का द्योतक साम्राज्य होता है और उसकी शक्ति का आभास उपनिवेश प्राप्त करने में ही हो सकता है। इसलिए युद्ध अनिवार्य है। युद्ध को पवित्र कर्म माना गया है। जातीयता की भावना को सर्वप्रमुख बताया गया है.

2. Diplomacy—H. Nicolson, p. 152-153

१८९८ के स्पेनिश-अमेरिकन युद्ध तक अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से दूर-दूर और पृथक्-सा ही रहता था, क्योंकि वह प्रारम्भ म अधिक शक्तिशाली नहीं था। इसलिए वह अपनी स्वतंत्रता की रक्षा तथा शक्ति-संगठन के लिए ऐसी "उलझानेवाली संमैत्रियों (Entangling alliances) से वचना चाहता था जिनका यूरोपीय देशों के इतिहास में वाहुल्य था। इसी शक्ति-संगठन तथा यूरोपीय राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा से वचने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी जनसंख्या के विस्तार तथा प्रवास द्वारा उत्तर अमेरिकी महाद्वीप के उन भागों को भी शनैः शनैः अपने में सम्मिलित कर लिया जिन्हें यों ही छोड़ देने पर निश्चय ही यूरोपीय शक्तियाँ अपना उपनिवेश वना डालतीं और इस प्रकार भविष्य में सदा के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वतंत्रता को भय वना रहता। उत्तर अमेरिकी महाद्वीप पर संयुक्त राज्य अमेरिका का यह विस्तार अटलांटिक तट से पैसिफिक तट तक अर्थात् पूर्व से पश्चिम तरफ को हुआ। इसी समय "मनरो सिद्धान्त" का जन्म हुआ जिसका प्रादुर्भाव दोनों अमेरिकी महाद्वीपों से और विशेषकर दक्षिण अमेरिका से यूरोपीय राज्यों के किसी भी प्रकार के (क्रान्तिवादी या साम्राज्यवादी) प्रभाव या अधिकार को दूर रखने के लिए हुआ था, यद्यपि कालान्तर में अपने स्वार्थ के अनुरूप अमेरिका इस सिद्धांत को नया-नया रूप देता गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से निश्चिन्त तथा विलग रहने का एक कारण यह भी था कि अमेरिका के वाणिज्यिक स्वार्थ के विस्तार का क्षेत्र प्राच्य खंड था, ग्रेट ब्रिटेन सर्वप्रमुख सामुद्रिक शक्ति था जिससे अमेरिका को किसी प्रकार की प्रतिस्पर्धा नहीं थी और न हानि होने की ही आशंका थी। यहाँ दोनों अमेरिकन महाद्वीपों में भी उसकी टक्कर की कोई शक्ति नहीं थी।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से अमेरिकन वैदेशिक नीति का दूसरा चरण प्रारम्भ होता है। इस समय उसका व्यापारिक और व्यावसायिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है; और जर्मनी, इटली तथा जापान की वढ़ती हुई सामुद्रिक शक्ति एवं फैलते हुए साम्राज्यों तथा साम्यवाद के अवाध विस्तार से उसके वाणिज्य-व्यावसायिक हितों एवं विदेशों में फैली हुई अमेरिकन पूँजी पर कठिन आघात पहुँचने की आशंका होने लगती है। परिणाम-स्वरूप अमेरिका अपनी समस्त

संचित शक्ति, यौवन का उत्साह और उमंग तथा आत्म-विश्वास लेकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रांगण में पूरी मुस्तैदी से उतर आता है।

अपने लगभग २०० वर्षों के जीवन-काल में अमेरिका ने अधिकांशतः निश्चितता, सुरक्षा तथा सम्पन्नता ही देखी है। उसे प्रारम्भ में हर दिशा में सफलताएँ हाथ लगती रहीं और साथ ही उसमें नयी उमर का उत्साह भी है। राजनयिक दृष्टिकोण से इसके दो परिणाम हुए हैं। एक तो यह कि जनता ने वैदेशिक नीति के निरूपण, संचालन अथवा नियंत्रण में अधिक रुचि नहीं दिखायी जिसके फलस्वरूप राजनयिक सेवा में वृत्तिक राजनयज्ञों (Professional diplomatists) के बजाय दलगत भावना से अर्थात् राजनीतिक दृष्टिकोण से चुने गये राजनयज्ञों को अधिक महत्त्व दिया गया। इन नौसिखिए राजनयज्ञों की अदूरदर्शिता से अमेरिका को पर्याप्त मान-हानि और अपकीर्त्ति उठानी पड़ी, तब कहीं जाकर अनुभवी वृत्तिक राजनयज्ञों के पक्ष में झुकाव हुआ है। दूसरे, अत्यधिक आशावादिता की वृद्धि हुई है। यह आशावाद वर्त्तमान अमेरिकन अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाहियों में स्पष्ट दिखाई देता है। इस आशावाद तथा आत्म-प्रवंचना जैसी मनोभावना के दो उदाहरण ही बहुत होंगे। ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रिटिश शक्ति के कारण ही अमेरिका यूरोप या उस ओर के किसी भी संकट से प्रायः निश्चित था परन्तु तत्कालीन अमेरिका यही मानता रहा कि यूरोपीय राज्यों की ओर से आक्रामक कार्यवाही या साम्राज्य विस्तार की अन्य चेष्टाएँ न होने का कारण स्वयं उसकी कुशल नीति थी। श्री जी० एफ० कैनन का मत है कि "ब्रिटिश समुद्री बेड़े तथा ब्रिटेन के यूरोपीय राजनय के पीछे सुरक्षित अपनी स्थिति को उन्होंने (अमेरिकनों ने) गलती से यह समझा कि वह उस श्रेष्ठ अमेरिकन बुद्धिमत्ता एवं सद्गुण का परिणाम थी जिसके कारण उन्होंन यूरोप के गंभीर भेद-भावों में हस्तक्षेप नहीं किया।"[1] दूसरा उदाहरण है—चीन में "उन्मुक्त-द्वार नीति" (Open Door Policy) के प्रथम बार लागू करने का श्रेय अमेरिका द्वारा अपने ऊपर लेना

1. American Diplomacy, 1900-1950, George F. Kennan, 2nd Impression (1951), p. 5

जब कि उसका वास्तविक जन्मदाता ब्रिटेन था। अमेरिका ने इस तथ्य की ओर से नेत्र बन्द कर लिये कि उक्त नीति ब्रिटेन और चीन के दीर्घकालीन सम्बन्धों में बहुत पहले से सुस्थापित हो चुकी थी।

अमेरिकन वैदेशिक नीति और राजनय में आदर्शवादिता भी पर्याप्त मात्रा में है, यह प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति स्वीकार करेगा। अमेरिकन राजनय में नैतिक मनःस्थितियों से सम्बन्धित भावनाएँ राजनय के संचालन का एक तत्त्व—एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।[1] यह आदर्शवाद अमेरिकनों का जातिगत स्वभाव है। परतंत्र देशों की स्वतंत्रता का वह प्रबल समर्थक और जनतांत्रिक प्रणाली का पोषक है। विश्व के विभिन्न स्वातंत्र्य-संग्रामों का अमेरिकनों ने किस भाँति साथ दिया, यह इतिहास-विदित तथ्य है। जनतांत्रिक प्रणाली को वे, अत्यधिक आदर्शवाद की झोंक में, "अमेरिकन जीवनप्रणाली" (American way of life) के रूप में ही देखते हैं और दूसरों से भी वे उसके अनुकरण की अपेक्षा करते हैं। किन्तु अमेरिका के राजनयिक इतिहास को देखने से प्रतीत होगा कि उनमें विशुद्ध आदर्शवादिता नहीं है। उसके द्वारा घोषित आदर्श के एकदम विपरीत भी कार्य देखने को मिलते हैं। ऐसे उदाहरण वर्त्तमान तनावपूर्ण परिस्थितियों में और भी अधिक मिलते हैं। अमेरिका स्वतः हिंसक क्रांति के द्वारा स्वतन्त्र हुआ था किन्तु अपने स्वार्थ के कारण उसने "नयी दुनिया" (New world) अर्थात् अमेरिकन महाद्वीपों में हिंसा द्वारा शासनों की स्थापना या परिवर्तन को मान्यता देने से अस्वीकार कर दिया। साथ ही उसने पनामा नहर क्षेत्र को हस्तगत करने की नीयत से इस अहिंसात्मक (?) सिद्धान्त के विपरीत मैक्सिको राज्य के विरुद्ध उसके राज्यक्षेत्र में विद्रोह करवा दिया। मनरो-सिद्धान्त (Monro Doctrine) 'नयी दुनिया' में किसी यूरोपीय राज्य के प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप रोकने के लिए घोषित किया गया था, परन्तु बाद में चलकर उसी का अर्थ अमेरिका ने ऐसा लगाना शुरू कर दिया कि उसके आधार पर वह स्वयं दक्षिण अमेरिकी और मध्य अमेरिकी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकारी बन बैठा। मनरो-सिद्धान्त,

1. American Approach to Foreign Policy-by Dexter Perkins p.82

इस प्रकार, शनैः शनैः "वृहत्-यष्टिका नीति" (Big Stick policy) और "डालर साम्राज्यवाद" में परिवर्तित हो गया। साम्राज्यवाद के प्रबल विरोधी अमेरिका को स्वतः साम्राग्य-विस्तार की चाट लगी तो क्यूवा, फिलिपाइन्स तथा कोलम्बिया के कुछ हिस्से पर आधिपत्य कर लिया और बाद में आर्थिक साम्राज्यवाद का विस्तार करना प्रारम्भ किया। परन्तु यह पथ-भ्रष्टता प्रायः अस्थायी रहती है। "वृहत्-यष्टिका नीति" के स्थान पर प्रेसीडेण्ट एफ० डी० रूजवेल्ट की "सुप्रतिवेशी नीति" (Good Neighbour policy) आगे आयी, फिलिपाइन्स एवं क्यूवा को अति शीघ्र स्वतन्त्रता मिल गयी, चीन से "बाक्सर-विद्रोह" (Boxer Rebellion) के लिए जो हरजाना प्राप्त हुआ था उसे वापस कर दिया गया।

अमेरिकन राजनय पर जातिगत आदर्शवाद का अत्यधिक प्रभाव होने का एक प्रमाण यह भी है कि अमेरिकन जनता को साधारण रूप से गुप्त आदान-प्रदान अर्थात् संधि-चर्चा या वैदेशिक मामलों पर गुप्त वाद-विवाद रुचिकर नहीं रहता और इसी लिए वह संधियों पर सीनेट के द्वारा गुप्त अधिवेशनों में नहीं वरन् खुले तौर से विचार करती है। यह नैतिकता प्रायः भावुकता की सीमा तक पहुँच जाती है। सन् १८४८ की यूरोपीय क्रांतियों के प्रति जो उत्साह अमेरिका ने प्रदर्शित किया था वह निरी भावुकता ही तो थी। इसी भावुकता अथवा अत्यधिक आदर्शवादिता के परिणामस्वरूप अमेरिकन राजनय में स्थितिस्थापकत्व अर्थात् लोच (Elasticity) का गुण नहीं है। परिस्थिति के अनुसार शीघ्र कार्यवाही करने की क्षमता अमेरिकन राजनय में नहीं आ पायी है। वैदेशिक नीति के विषय में अमेरिकन संविधान ने कार्यपालक (एग्जीक्यूटिव) तथा विधान-मंडल के बीच जो शक्ति-विभाजन (डिवीजन ऑफ पावर्स) कर दिया है उससे और भी अधिक कठोरता आ गयी है। साम्य-वादी संकट के विरुद्ध अमेरिकन राष्ट्र को संगठित रूप से खड़ा करने और सैन्य-शक्ति-वृद्धि पर अधिकाधिक रकम खर्च करने के लिए अमेरिकन शासन ने वर्षों प्रचार तथा प्रकाशन द्वारा सतत प्रयत्न किये, तब कहीं यह जनमत को अपने मनोनुकूल मार्ग पर लाने में सफल हुआ और अब अमेरिका में ऐसी सामरिक मनोवृत्ति व्याप्त हो गयी है कि उसे दूर करने में भी अधिक कठिनाई का सामना

करना पड़ेगा। श्री जी० एफ० केनन ने इसी सत्य को प्रदर्शित करने के लिए दूसरे काल का उदाहरण दिया है—"एक देश जो १९०० ई० में यह बिलकुल नहीं सोचता था कि उसकी समृद्धि और जीवन-प्रणाली को बाहरी संसार से भय है, सन् १९५० में वही ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया जहाँ वह इस संकट के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं पाता।"[1] संक्षेप में आलंकारिक भाषा में अमेरिकन राजनय उस भीमकाय वन्य शूकर के समान है जो या तो निश्चित रूप से सोता रहता है या फिर जागने पर परिणामों की चिन्ता किये बिना अपने लक्ष्य पर पूरी शक्ति से एकदम सीधा धावा बोलता है किन्तु जो भारी-भरकम होने के कारण शीघ्रता से यहाँ-वहाँ घूम नहीं सकता। अमेरिकन राजनय में वह पैंतरेबाजी और दाव-पेंच की सफाई नहीं आ पायी है जो दीर्घकालीन अभ्यास के कारण ब्रिटिश या इटालियन राजनय में परिव्याप्त है। श्री डी० डब्लू० ब्रोगन ने इसे और भी सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया है—"अमेरिकन अमात्य या राजदूत नृत्य से अलग बैठनेवाली महिला के समान था। वह राजनयिक नृत्य देखा करता था किन्तु उसमें सम्मिलित नहीं होता था।"[2]

ब्रिटिश राजनय की तरह कौशलपूर्ण न होने पर भी अमेरिकन राजनय धीरे-धीरे पथ पर बढ़ रहा है। यह बात ऊपर बताये हुए आदर्शवाद-विषयक परस्पर विरोधी नीतियों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाती है। यह विरोधाभास वास्तव में इसलिए प्रकट होता है कि शासन अर्थात् कार्यपालक के यथार्थवाद को जनता के आदर्शवाद का चोंगा पहनाने की चेष्टा की जाती है। "मनरो सिद्धान्त" के विषय में प्रो० ब्रोगन ने उचित ही कहा है कि "अमेरिका के शासकों के लिए यह एक उपयोगी, सम्मानसूचक तथा भावुकता की दृष्टि से प्रबल वाक्यांश रहा है जो एक यथार्थवादी तथा उपयोगितापूर्ण नीति को ढँकने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता था।"[3]

अमेरिका के राजनय को वास्तव में "डालर राजनय" (Dollar

1. American Diplomacy—G. F. Kennan (Foreword p. vii)
2. American Foreign Policy—D. W. Brogan. p. 4
(Oxford pamphlets on World Affairs No. 50)
3. Ibid. p. 13

Diplomacy) कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। वैसे उस देश के लक्ष्य को देखते हुए उसे "साम्यवाद-विरोधी" राजनय भी कह सकते हैं, किन्तु यह वाक्यांश उतने व्यापक अर्थ का द्योतक नहीं जितना कि 'डालर राजनय'। अमेरिका एक पूँजीपति तथा अत्यधिक उद्योगीकृत देश है। अतएव वह साम्यवाद प्रसार का विरोध इसलिए करता है कि उसके विस्तार से अमेरिका के आज जो "अभिरुचि-क्षेत्र" (Spheres of interest) हैं वे कल विरोधी दल के "प्रभाव-क्षेत्र" (Spheres of influence) में परिवर्तित हो गये तो अमेरिकन माल की खपत और डालर की दौड़ के लिए कोई स्थान ही न रह जायगा। इसी हित को दृष्टि में रखते हुए अमेरिका किसी देश को आर्थिक सहायता देता है, जैसे "मार्शल सहायता योजना", तो किसी को शस्त्रास्त्र, युद्धोपकरण आदि की सहायता, जैसे पश्चिमी यूरोप और पाकिस्तान को दी गयी सैन्य सहायता। अनेक तथाकथित सुरक्षा-संधियों के पीछे भी यही उद्देश्य है, जैसे, 'नेटो' (उत्तर-अटलाण्टिक संधि-संगठन), 'सीटो' (दक्षिण-पूर्व-एशियाई सुरक्षा-संगठन), 'पश्चिम-यूरोपीय सुरक्षा-संधि-संगठन'। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि अमेरिका के साम्यवाद-विस्तार-विरोधी राजनय में अन्य तत्त्व कार्य नहीं कर रहे हैं (जैसे जनतांत्रिक भावना और स्वतन्त्र संस्थाओं की रक्षा), परन्तु यह अभिप्राय अवश्य है कि डालर के लिए 'अभिरुचि-क्षेत्र' की रक्षा करना और साथ ही वर्त्तमान क्षेत्र को अधिकाधिक विस्तृत करना उस राजनय का प्रमुखतम तत्त्व है। अमेरिका के विगत इतिहास से भी विदित होता है कि वहाँ के पूंजीपतियों तथा वाणिज्यिक तत्त्वों का उसकी वैदेशिक नीति पर प्रभाव रहा है।

अमेरिका की वैदेशिक नीति का तिथ्यनुसार विश्लेपण करते हुए श्री परकिन्स डेक्सटर ने अपनी पुस्तक 'अमेरिकन ऐप्रोच टू फारिन पॉलिसी' के सप्तम अध्याय में उसकी वैदेशिक नीति के लिए एक "चक्र सिद्धान्त" (Cyclical Theory) या "लय सिद्धान्त" (Rhythmical theory) स्थापित किया है जो बड़ा ही सुन्दर है। संक्षेप में उसका अर्थ यह है कि अमेरिका की वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में लयात्मक ढंग से क्रमानुसार तीन प्रकार की मनोवृत्तियों का चक्र चलता है—(१) शांत्युन्मुखी वृत्ति, (२) उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यौद्धिक मनोवृत्ति तथा युद्ध और (३) युद्धोत्तरीय राष्ट्रीयता की वृत्ति।

सामरिक मनोवृत्ति का प्राधान्य उस समय पाया जाता है जब कि किसी आर्थिक संकट को पार करके पुनः स्वस्थ आर्थिक परिस्थितियाँ आने लगती हैं और आर्थिक स्थिरता आने पर वैदेशिक नीति में भी सौम्यता आ जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका स्पष्ट प्रभाव अमेरिकन राजनय पर भी पड़ता है, क्योंकि जनता की मनोवृत्ति को तुष्ट करने की आवश्यकता को राजनयज्ञ, विशेषकर अमेरिकन राजनयज्ञ भूल नहीं सकते।

यहाँ हम अमेरिकन राजनय के एक दूसरे लक्षण पर पहुँचते हैं। स्थानीय राजनीति और दलगत मनोवृत्ति का व्यापक प्रभाव अमेरिकन राजनय पर पड़ता है। इसी लिए अमेरिका में वृत्तिक राजनयज्ञों के प्रति झुकाव नहीं रहा है। राजदूतादि की नियुक्ति में उनके अनुभव या वृत्तिकता का उतना ध्यान नहीं रखा जाता जितना कि दलगत मनोवृत्ति का। राष्ट्रपति तक के चुनाव में यह ध्यान नहीं रखा जाता कि उसे वैदेशिक मामलों में रुचि या अनुभव है या नहीं। वैसे अब कुछ समय से वृत्तिक राजनयज्ञों की ओर अमेरिका का झुकाव हो रहा है।

अमेरिकन राजनयज्ञ में एक सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वह वैदेशिक परिस्थितियों से भली भाँति परिचित रहता है। किन्तु बहुधा अन्य देशों की जनता में वह अपनी स्वयं की मनोभावनाएँ आरोपित कर देता है। यह उसका अवगुण है जो स्वाभाविक भी है, इसलिए क्षम्य है। श्री हेरॉल्ड निकलसन के मतानुसार अमेरिकन राजनयज्ञ यूरोपियन राजनयज्ञों से सामना होने पर आत्मविश्वास की कमी अनुभव करता है और इसलिए वह शंकालु दृष्टि से दूसरे राजनयज्ञों को देखता है। हो सकता है, यह बात कभी सत्य रही हो परन्तु आज तो स्पष्टतया वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही है। कुछ भी हो, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि अमेरिकन राजनयज्ञ आदर्शवादी तथा आशावादी होते हैं, उनमें अदम्य उत्साह, धैर्य, लगन और दृढ़ाग्रह प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहते हैं।

६—सोवियत राजनय

अन्य देशों के राजनय के समान सोवियत रूस के राजनय में भी उसकी वैदेशिक नीति प्रतिबिम्बित होती रही है। यद्यपि रूस का इतिहास दो स्पष्ट कालों में विभक्त किया जा सकता है अर्थात् एक साम्यवादी क्रान्ति के पूर्व

का और दूसरा उसके वाद का, तथापि उसकी वैदेशिक नीति के मूलभूत निर्माण-कारी तत्त्वों में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं आया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि सोवियत रूस की वैदेशिक नीति पर उसकी भौगोलिक परिस्थितियों तथा शताब्दियों पुराने इतिहास का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। रूस के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक तथ्य यह है कि उसकी सीमा के अन्तर्गत ऐसा कोई समुद्री बन्दरगाह नहीं है जिसका पानी साल के वारह महीनों में कभी भी न जमता हो और इस प्रकार साल भर जहाजों के लिए वन्दरगाह खुला रहता हो। द्वितीय महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उत्तर दिशा को छोड़कर रूस की सीमा पर कोई प्राकृतिक प्रतिरक्षा पंक्ति ऐसी नहीं रही जैसी कि उत्तर में भारतवर्ष को हिमालय के द्वारा प्राप्त है। परिणामस्वरूप रूस के पूर्व और पश्चिम में शत्रुओं के आक्रमणों के लिए सदैव द्वार खुला रहा है। प्राकृतिक प्रतिरक्षा-सीमा की खोज के कारण रूस के मन में अपने पड़ोसियों के प्रति स्वाभाविक अविश्वास और संदेह की भावनाओं ने घर वना लिया और ये भावनाएँ आज भी उसी प्रकार चली जा रही हैं वल्कि क्रान्ति के पश्चात् वाह्य शक्तियों के सतत विरोध के कारण यह अविश्वास और संदेह सघनतर ही हो गये हैं। स्वभावत: वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में रूसी शासकों के दो परम लक्ष्य रहे हैं, (१) सुरक्षा और (२) सदा हिमविहीन समुद्र-तट की प्राप्ति। इन्हीं दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए रूसी शासक सदैव स्वदेश की सीमाओं को आगे बढ़ाने के सतत प्रयत्न, जो वहुधा सफल भी रहे, करते रहे हैं। सर जे० ए० आर० मेरिअट ने तो अपनी पुस्तक "यूरोप ऐण्ड बिआण्ड" (Europe and Beyond) में रूस की पिछली दो शताब्दियों की वैदेशिक नीति का निचोड़ अत्यन्त सूक्ष्म रूप में एक ही शब्द में भर दिया है—'विस्तार' (Expansion)। एक ओर रूस का प्रयास यह रहा है कि उसके सीमावर्ती देश या तो उसके आश्रित हों या फिर उसके शत्रु न हों। दूसरी ओर वह हिमविहीन समुद्री तट की खोज में कभी पूर्व में साइबीरिया में से होकर पैसिफिक महासागर की ओर तो कभी दक्षिण में काला सागर के मुहानों से होकर भूमध्यसागर, और ईरान में से अरव सागर की ओर अश्रान्त रूप से फैलने की चेष्टाएँ करता रहा है। एक दिशा में उसके विस्तार की प्रगति को कोई वड़ी रुकावट मिलते ही उसकी गति

दूसरी दिशा की ओर उन्मुख हो जाती है। धीरे धीरे साइबीरिया को अधिकार में करते हुए पैसिफिक महासागर तक तो रूस पहुँच गया किन्तु दक्षिण और पश्चिम में वह बारम्बार असफल रहा है।

आज भी सोवियत रूस की वैदेशिक नीति का अन्तिम निष्कर्ष वही निकलता है जो ऊपर दर्शाया गया है, भले ही आज राजनीतिक परिस्थितियाँ और वायुमंडल आमूल रूप से परिवर्तित हो चुके हैं। इसके दो प्रमुख कारण हैं। प्रथम, रूस की भौगोलिक परिस्थितियाँ अब भी वैसी ही हैं जैसी कि सदियों पूर्व थीं। द्वितीय, रूस की साम्यवादी क्रान्ति वास्तव में मार्क्स द्वारा कल्पित पूंजीवादी समाज की क्रान्ति नहीं थी और न प्रथम रूसी साम्यवादी क्रान्तिकारियों की यह आशा ही फलीभूत हुई कि यूरोप और एशिया के देशों में साम्यवादी शासनों की स्थापना होकर पूंजीवाद की समाप्ति हो जायगी। अन्य देशों में क्रान्ति फैलाने के बजाय अब रूसी शासकों का ध्यान स्वदेश के नवीन साम्यवादी शासन को संगठित और दृढ़ीकृत करने की ओर गया। स्वराष्ट्र की सुरक्षा और संगठन के उद्देश्य से ही स्टालिन ने इस नीति का, अर्थात् "पहले साम्यवाद एक देश में" नीति का वास्तविक सूत्रपात किया और धीरे-धीरे 'कमिण्टर्न' (Comintern) नामक, साम्यवादियों की अन्तर्राष्ट्रीय पथ-प्रदर्शक एवं संचालकीय संस्था का अन्त हो गया तथा पंचवर्षीय योजनाओं का युगारम्भ हुआ। स्टालिन की उक्त मनोवृत्ति को लक्ष्य करके ही लेनिन ने उसे "रूस का महान् उग्र देश-भक्त" कहा था। आज भी सोवियत रूस की वही नीति है, जो सोवियत शासकों आदि की "पूंजीवाद तथा साम्यवाद के सह-अस्तित्व" की चर्चाओं से स्पष्ट होती है। यदि जार-कालीन रूस की वैदेशिक नीति से आज के रूस की वैदेशिक नीति में कोई परिवर्तन दीखता है तो वह केवल नामों और शब्दों का ही कहा जा सकता है। "पाश्चात्य के प्रति पुरानी प्रतिकूलता—घेरे जाने का पुराना भय; पूंजीवाद-विरोध के रूप में, रूसी राष्ट्र की सुरक्षा; अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के अग्रणी की सुरक्षा के रूप में, सुरक्षा के लिए किया गया विगत सीमा-विस्तार; साम्यवाद के विस्तार और श्रमिकों की प्रगति के रूप में पुनः प्रकट हुए।"[1]

1. Russian Foreign Policy—Barbara Word, p. 5

परन्तु सोवियत रूस के क्रान्तिकारी नेताओं ने ऐसा जान-बूझ कर किया, यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता और यदि उनके शब्द पुरानी नीतियों के लिए नये नारे ही सिद्ध हुए तो इसमें उनका दोष नहीं था।

रूसी राजनय अत्यधिक व्यावहारिक रहता है और इसलिए उसमें लोच भी प्रचुर मात्रा में रहता है। सावधानी, रहस्यात्मकता तथा कूटनीति भी उसके अन्य विशिष्ट गुण हैं। ये गुण परम्परागत संस्कारों के रूप में रूसी जाति के रक्त में व्याप्त हो चुके हैं। उनके पूर्वजों ने न जाने कितने वर्षों बद्दू जीवन व्यतीत किया और इसी काल में उस अनिश्चित, सुविस्तृत और अरक्षित हिम-प्रदेश में इन पूर्वजों के विभिन्न खेमों के बीच अनवरत संघर्ष चला करते थे। तभी आवश्यकता के कारण उनमें उक्त गुणों का स्वाभाविक परिपाक हुआ। यद्यपि रूसी शासक अब भी पूँजीवाद के विघटन और साम्यवादी क्रान्ति में आस्था रखते हैं तथापि उनकी दृष्टि में इस क्रान्ति के लिए कोई समय निश्चित नहीं है और इसी लिए अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उनमें कोई उतावलापन नहीं प्रकट होता। हाँ, अपने लक्ष्य की ओर शनैः शनैः दृढ़ता-पूर्वक तथा सतत अथक रूप से अग्रसर होते रहना कभी समाप्त नहीं होता। इसी लिए किसी एक-क्षेत्रीय पराजय का रूसी राजनय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मार्ग में अलंघ्य बाधा, जिससे क्षति की आशंका दीखती हो, आ जाने पर वह या तो कुछ काल के लिए रुक जाता है, पीछे हट जाता है या अपनी गति की दिशा बदल देता है अथवा फिर अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेता है। इनमें से कोई भी मार्ग ग्रहण करने में उसे कोई हिचकिचाहट नहीं होती। परन्तु विरोधी शक्ति के सम्मुख आसानी से मैदान छोड़ना रूसी राजनय ने नहीं सीखा। अपने मार्ग की बाधा को दूर करने के लिए वह उसी सीमा तक शक्ति लगाता है जहाँ तक कि उसे क्षति पहुँचने की आशंका न हो अथवा अवरोध उससे अधिक शक्तिशाली न हो, किन्तु कठिन से कठिन परि-स्थितियों में भी रूसी राजनय ने साहस और धैर्य छोड़ना नहीं सीखा और न किसी मोर्चे पर पराभव होने से उसमें नैराश्य और उदासीनता ही आ पाती है। रूसी राजनयज्ञों में आत्मसम्मान की भावना भी प्रचुर मात्रा में रहती है। इसलिए उनसे शान्तिपूर्वक तथा सौहार्दपूर्ण ढंग से जितना काम निकाला जा

सकता है उतना क्रोध या धमकी-घुड़की से नहीं। रूसी नेता तथा राजनयज्ञ मानव मनोविज्ञान के अच्छे ज्ञाता रहते हैं और विरोध-पक्ष के राजनयज्ञों की किसी प्रकार की स्वभाव-सम्बन्धी शिथिलता से तुरन्त लाभ उठाते हैं।

रूस में साम्यवादी शासन स्थापित होने के समय से नये-नये उत्साह के कारण राजनयिक आचार के क्षेत्र में भी कुछ परिवर्तन करने की चेष्टा की गयी। उदाहरणार्थ राजनयज्ञों के प्रचलित श्रेणी-विभाजन को मिटाकर रूस ने अपने देश के राजनयज्ञों को केवल दो श्रेणियों में बाँट दिया। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य देशों के राजदूतों के समान राजनयिक अधिकार सोवियत राजनयज्ञों को नहीं दिये जाते थे। अतएव सोवियत रूस को पुनः प्रचलित श्रेणी-विभाजन को अपनाकर परम्परा का अनुसरण करना पड़ा। साम्यवादी रूस का दूसरा तथा सबसे व्यापक प्रभाव राजनयिक प्रचार तथा प्रकाशन पर पड़ा है। इस क्षेत्र में रूस को अपना चरण पीछे नहीं हटाना पड़ा है। उलटे अन्य देशों ने ही उसके प्रचार तथा प्रकाशन की प्रणाली को अपना लिया है। इस प्रणाली पर विस्तार से विचार पहले किया जा चुका है।

सोवियत राजनय का बड़ा सुन्दर आलंकारिक चित्रण श्री जार्ज एफ० केनन ने अपनी पुस्तक "अमेरिकन डिप्लोमेसी" (१९०० से १९५०) में किया है। "उसकी राजनीतिक क्रिया एक तरल प्रवाह है जो अवसर दिये जाने पर अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर सतत रूप से प्रवाहित होता है। उसकी प्रमुख उत्सुकता विश्वशक्ति की तलहटी में प्राप्त हो सकनेवाले प्रत्येक कोने और प्रत्येक दरार को भर देने की रहती है। किन्तु यदि उसे अपने मार्ग में अनिवारणीय अवरोध मिल जाय तो वह उसे दार्शनिक की नाईं स्वीकार करते हुए उसके साथ अपना सह-निर्वाह कर लेता है। मुख्य बात यह है कि अभीष्ट उद्देश्य की ओर शक्ति, अधिकाधिक और अबाध शक्ति, का प्रयोग होते रहना चाहिए। सोवियत मनोविज्ञान में इसकी झलक मात्र नहीं मिलती कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति किसी निश्चित काल तक हो जानी चाहिए।"[1]

1. American Diplomacy—G. F. Kennan, p. 118

७—भारतीय राजनय

चूंकि भारतीय राजनय का सीधा सम्वन्ध भारतीयों से अधिक है अतएव उन्हें इसमें स्वाभाविक रुचि भी होगी। साथ ही उनके दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण भी है। इन दोनों तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए तो भारतीय राजनय के सुविस्तृत विवेचन की आवश्यकता का बार-बार अनुभव होता है परन्तु स्थानाभाव के कारण ऐसा विवेचन इस छोटी-सी पुस्तक में सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ संक्षेप में प्रमुख बातों पर ही प्रकाश डाला जा सका है।

समस्त भारतीय इतिहास को, देश के राजनीतिक विभाजन की दृष्टि से, दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वह जब कि सम्पूर्ण अथवा प्रायः-सम्पूर्ण भारतवर्ष पर एकछत्र राज्य रहा है और दूसरे वह जब कि देश अनेक स्वतन्त्र राज्यों में बँटा हुआ रहा है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जब-जब भारतवर्ष में एकछत्र राज्य की स्थापना हुई है तब-तब यहाँ का शासक नितान्त निश्चिन्त और शान्तिप्रिय बनकर अपने तक ही सीमित होकर रह गया है। कालान्तर में बाहरी संसार से उसने राजनीतिक सम्बन्ध प्रायः विच्छिन्न से कर लिये और अन्य जातियों या देशों की राजनीतिक गतिविधियों पर दृष्टि रखना भी छोड़ दिया। पौराणिक काल, जिसकी कुछ झाँकी हमें पौराणिक कथाओं में देखने को मिलती है, और उसके बाद का इतिहास, दोनों इस सत्य के साक्षी ह। अशोक से लेकर मुग़ल शासन काल तक यही देखने को मिलता है। भारत में ब्रिटेन का भी एकछत्र शासन रहा है किन्तु उस पर यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि उसके प्रशासन का केन्द्रबिन्दु दिल्ली में नहीं वरन् लन्दन में था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इस आत्मपरिसीमन का परिणाम भी बारंबार घातक सिद्ध होता रहा है। किन्तु इस आत्मपरिसीमन की मनोवृत्ति के दो प्रमुख कारण हैं—भौगोलिक और चारित्रिक। भारतवर्ष की सीमाएँ प्रकृति ने ऐसी बनायी हैं कि बाह्य शत्रुओं से उसकी रक्षा अपने आप होती रही है। इसी लिए जब इस देश में एकछत्र राज्य और पूर्ण शान्ति स्थापित हो गयी तो यहाँ का शासक भी निश्चिन्त हो गया क्योंकि उसे बाह्य

आक्रमणों की चिन्ता नहीं के वरावर ही रह गयी। कभी-कभी इतिहास में यह अवश्य देखने को मिलता है कि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश पर सुरक्षा एवं प्रतिरक्षा का विशेष प्रवन्ध रहा है किन्तु शत्रुओं अथवा वाह्य शक्तियों की गतिविधियों का अनवरत अन्वेषण और अध्ययन या उनसे सम्पर्क स्थापित करना, अथवा संभाव्य शत्रुओं के विरुद्ध अपना मित्रवर्ग तैयार करना—यह सव हमें नहीं मिलता।

हिन्दू धर्म और आध्यात्मिकता, दोनों के प्रभाव के कारण भी उपर्युक्त आत्मपरिसीमन की मनोवृत्ति अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से संन्यास का यहाँ प्राधान्य रहा है। इस देश में एक आध्यात्मिक वायुमंडल ही वन गया है जिसका प्रभाव मध्य एशिया से आनेवाली उन जातियों पर भी पड़ा जो यहाँ शासक वनकर रह गयीं। यही कारण है कि यहाँ के शासक ने कभी राजनीतिक उपनिवेश प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की और न ऐसे कोई उपनिवेश भारत के कभी रहे, यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि नौसेना का अभाव भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। धर्मदूत और सांस्कृतिक दूत अवश्य दूर-दूर देशों को भेजे जाते रहे हैं परन्तु उन्हें भी समर्थन शासन-शक्ति का नहीं वरन् विश्व-वंधुत्व की भावना और मानवीय सहानुभूति का ही रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पारस्परिक विद्वेष और कलह को मिटाने की यह अभिनव और सर्वथा मौलिक प्रणाली थी जिसे पाश्चात्य राजनय आज तक नहीं सीख सका। आज भी यदि भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के शान्तिपूर्ण उपायों का सर्वाधिक प्रयोग कर रहा है तो वह भी उक्त भावना के प्रभाव के कारण ही। परन्तु आज उसकी इस नीति का परिणाम आत्मपरिसीमन नहीं हो रहा है तो इसलिए कि आज की आमूल परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों में ऐसा सम्भव नहीं है। साथ ही आधुनिक युग की आमूल परिवर्तित युद्धप्रणाली और शस्त्रास्त्रों से भारत की प्राकृतिक प्रतिरक्षा-पंक्ति का भी अव वह महत्त्व नहीं रह गया है जो पहले था। इस कारण भी अव वाह्य जगत से विलग नहीं रहा जा सकता। इसके अतिरिक्त नवीन तथा उत्कर्षशील भारत के वढ़ते हुए विदेशी वाणिज्य-व्यापार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वाजार भी नितान्त आवश्यक है, जिसमें आवा-

गमन के नये-नये साधनों से बड़ी सहायता मिलती है। इसलिए भी उसका आत्मपरिसीमन नहीं हो रहा है।

भारतीय इतिहास का दूसरा स्वरूप वह है जिसमें यह देश कई राज्यों में विभक्त रहा है। ऐसे समय में ही यहाँ वर्त्तमान काल जैसे राजनय का प्रादुर्भाव हुआ और जड़ जमी। इन राज्यों के पारस्परिक विद्वेष और कलह के अन्य कारणों में से एक प्रमुख कारण यह भी था कि वे अपनी राजनीतिक सीमाओं को भारत की प्राकृतिक सीमाओं तक विस्तृत करना चाहते थे। इस काल में राजदूतों का आदान-प्रदान, गुप्तचरी (Spying), संधि, करार आदि राजनय के विभिन्न अंगों का व्यापक और सुव्यवस्थित प्रयोग होता था। इस काल में राजनय का स्वरूप अधिकाधिक कूटनीति जैसा होता जाता था। यही नहीं, राजनयिक व्यवहार भी विशिष्ट और विशद नियमों से बँधा हुआ था। रामायण और महाभारत में भी इस विषय की पर्याप्त सामग्री मिलती है। रामायण में दशरथ द्वारा कैकेयी को दिये गये वचनानुसार उसके ज्येष्ठ पुत्र भरत को राजगद्दी न देकर अपनी प्रथम रानी के पुत्र रामचन्द्र को राजगद्दी सौंपने की चेष्टा, राम-सुग्रीव-वालि प्रकरण और वालि वध, राम-वानर संधि और उसका राम द्वारा दूरदर्शितापूर्ण एवं चातुर्यपूर्ण निर्वाह, विभीषण को अपने पक्ष में करना, रावण-अंगद प्रकरण आदि तथा महाभारत में श्री कृष्ण की मध्यस्थता या समझौते की नीति तथा तत्सम्बन्धी प्रयास, दोषी पक्ष अर्थात् कौरवों के पराभव के हेतु उनके अन्य राजनीतिक दाँव-पेंच, समस्त भारतवर्ष का कौरव तथा पाण्डव दो शिविरों में बँट जाना, स्वयं कृष्ण की यादवी सेना का उनके विरुद्ध कौरव दल का साथ देना और वह भी स्वयं कृष्ण की सहमति से, युद्ध-भूमि पर नियमानुसार युद्ध-संचालन, स्थगन, आहत-परिचर्या आदि ऐसे अनेकानेक उदाहरण इस बात के दिये जा सकते हैं जिससे केवल एक यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरातन काल से ही भारतीय राजनय बहुत बढ़ा-चढ़ा रहा है। महाभारत का शान्तिपर्व इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। पौराणिक कथाओं का सामान्य तथा सर्वाधिक रोचक विषय नारद से सम्बन्धित है। नारद मुनि के क्रिया-कलाप किसी भी चतुर-से-चतुर राजनयज्ञ या कूटनीतिज्ञ से कम नहीं कहे जा सकते। अपने सदुद्देश्य की प्राप्ति वे किस सुन्दर ढंग से

करते करवाते थे, यह प्रत्येक हिन्दू को विदित होगा। वास्तव में नारद अपने समय के आदर्श पर्यटक राजनयज्ञ थे।

ऐतिहासिक काल में भी इस सत्य के प्रमाण मिलते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य-कालीन महान् विद्वान् चाणक्य (कौटिल्य) द्वारा रचित अर्थशास्त्र इसका साक्षी है कि भारतीयों को राजनय के प्रायः उन सब स्वरूपों का ज्ञान था जो आज प्रचलित हैं और जो आज पाश्चात्य देशों की देन बनकर पूर्व में आ रहे हैं।[1] यह अद्भुत ग्रन्थ लगभग दो हजार वर्ष पूर्व रचा गया था जब कि आज का सभ्य पाश्चात्य जगत असभ्य स्थिति में था। संभवतः संसार में यह अपने विषय का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रथम (विनयाधि-कारिक), सप्तम (षाड्गुण्य) तथा द्वादश (अबलीयस्) अधिकरणों में राजनय-विषयक आश्चर्यजनक, सूक्ष्म और विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। चूंकि पूरे ग्रन्थ में इस विषय का भण्डार है इसलिए उद्धरण देना उचित नहीं दीखता। किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्त्ती अनेक आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए, उनकी चर्चा या खंडन करते हुए अपने मत का निरूपण या प्रतिपादन किया है। इन आचार्यों में से कुछ के नाम भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन (नारद), कौणपदन्त (भीष्म), वातव्याधि (उद्धव) हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कौटिल्य के बहुत पहले से ही उक्त विषय का विशद ज्ञान भारतीयों को था।

भारतीय संस्कृत-साहित्य के अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ 'मनुस्मृति', 'याज्ञवल्क्य स्मृति', 'शुक्रनीति', भारविकृत 'किरातार्जुनीय', विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' आदि में राजनय-विषयक ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हें पढ़कर उनके बीसवीं सदी के होने का भ्रम हो सकता है। उनमें आदर्श राजदूत के लक्षण और कर्त्तव्य, दौत्यकर्म, राजनयिक सफलता के लिए राजा के षड्गुण और चार उपाय आदि

१. "मनुष्यों के व्यवहार या जीविका को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि का नाम भी अर्थ है। इस भूमि को प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों का निरूपण करनेवाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।"
—कौटिलीय अर्थशास्त्र (हिन्दी अनुवाद सहित), अनु० प्रो० उदयवीर शास्त्री, तंत्रयुक्ति, पंचदश अधिकरण, प्रथम अध्याय, पृष्ठ ६२१

विषयों पर बड़ी मँजी-मँजायी सामग्री मिलती है। स्थान की संकीर्णता से कुछ ही उदाहरण दिये जाते हैं।

राजदूत के लक्षण और कर्त्तव्य—मनुस्मृति के सप्तम अध्याय के श्लोक ६३, ६४ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं[१]—

"राजा सब शास्त्रों के विद्वान्, इंगित (वचन तथा स्वर अर्थात् काकु आदि अभिप्रायसूचक भाव), आकार (क्रमशः प्रेम एवं उदासीनता की सूचक प्रसन्न एवं उदासीन मुखाकृति) और चेष्टा (क्रोधादि का सूचक नेत्रों का लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि) को जाननेवाले, शुद्ध-हृदय (राजधन अधिक व्यय करना, स्त्री आसक्ति, द्यूत, मद्यपान आदि से रहित), चतुर तथा कुलीन दूत को नियुक्त करे ॥६३॥

अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देश और काल का जानकार, सुरूप, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है ॥६४॥"

"शुक्रनीति" तो पूरा ग्रंथ नीतिशास्त्र पर ही लिखा गया है अतएव उसमें स्वभावतः राजनयविषयक सामग्री यथेष्ट रूप से उपलब्ध है। अध्याय ४ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। दूत की परिभाषा देखिए, कितनी सुन्दर एवं व्यापक है—

"इंगित (नेत्र से इच्छा का प्रकाश), आकार और चेष्टा का ज्ञाता, स्मृतिमान् (धारणा का अधिकारी) और देश-काल का ज्ञाता, छः गुणोंवाले मंत्र का वेत्ता, वाग्मी और भयरहित; इस प्रकार के लक्षण जिसमें हों उसे दूत कहते हैं। ८६॥"[२]

१. "दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इंगिताकारचेष्टज्ञं। शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥६३॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ।।६४॥"
—मनुस्मृति, सप्तम अध्याय श्लोक ६३, ६४, पृ० ३३१, ३३२), मणिप्रभा टीका, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, (ई० सन् १९५२)।

२. "इंगिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित्।
षाड्गुण्यमंत्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥८६॥"
—शुक्रनीति-पं० मिहिरचंद्र की भाषा टीका सहित, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९५२

"किरातार्जुनीय" के प्रथम सर्ग के श्लोक ४ में बताया गया है कि दूत ही राजा के नेत्र हैं, इस कारण उन्हें मिथ्या बोलकर राजा को धोखा नहीं देना चाहिए।"[1]

दौत्य-कर्म—दौत्य-कर्मविषयक सामग्री मनुस्मृति, सप्तम अध्याय के उपर्युक्त श्लोकों के बाद के श्लोकों में, याज्ञवल्क्य स्मृति के राजधर्म प्रकरण, शुक्रनीति के अध्याय चार, तथा किरातार्जुनीय के प्रथम तीन सर्गों में यत्र-तत्र मिलती है।

राजा के चार उपाय तथा छः गुण—देश की वैदेशिक नीति व राजनयिक सफलता के लिए राजा में छः गुण होने चाहिए और उसे चार उपायों का प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए मनुस्मृति, सप्तम अध्याय के श्लोक ६३–६४ के आगे के श्लोक देखिए।

याज्ञवल्क्य स्मृति के राजधर्म प्रकरण, श्लोक ४३, ४५ एवं ४७ इसी से सम्बन्ध रखते हैं—[2]

"जो देश अपने वश में आ जाय, उस देश में जैसा आचार, व्यवहार तथा कुल की मर्यादा हो उसको उसी रीति से पालन करे ॥४३॥"

"जिसका राज्य अपनी सीमा से मिला हो वह और उससे परे तथा उससे परे जो ह, वे क्रम से शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं यह स्वभाव है। इनका अभीष्ट समझकर सामादि उपाय करता रहे ॥४५॥"

१. किरातार्जुनीय, भारवि कृत। सम्पादक-श्री गौरीनाथ पाठक। शारदा पब्लिशिंग हाउस, काशी द्वारा वि० २००३ में प्रकाशित।
किरातार्जुनीय सम्बन्धी सभी उद्धरण इसी संस्करण में से दिये गये हैं।

२. "यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥४३॥
अरिर्मित्रमुदासीनो ऽनन्तरस्तत्परः परः।
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमैः ॥४५॥
सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनसंश्रयौ।
द्वैधीभावं गुणानेतान् यथावत् परिकल्पयेत् ॥४७॥"

—याज्ञवल्क्य स्मृति (राजधर्म प्रकरण, पृ० ७६–७७), संशोधित संस्करण (भाषा टीका सहित) पं० गुरुप्रसाद शास्त्री टीकाकार, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

"संधि (मेल), विग्रह (बिगाड़), यान (चढ़ाई करना), आसन (उपेक्षा), संश्रय (बलिष्ठ का आश्रय लेना) और द्वैधीभाव (फूट डालना) ये छः राजा के गुण हैं। जब जैसा देखना तब तैसा करना ॥४७॥"

शुक्रनीति के अध्याय चार, श्लोक १७, १८, १९, (पृ० १०८, १०९) में वही बात दूसरे ढंग से कही गयी है जो ऊपर मनु० श्लोक ४५ में कही है। चूँकि सीमावर्ती राज्य स्वाभाविक रूप से शत्रु होता है अथवा शत्रु होने की अधिक संभावना रहती है, इसलिए पृ० २१९ पर श्लोक ८९ में कहा है कि "जो राज्य अपने राज्य के अत्यन्त समीप हो उसे दूसरे राजा को कदापि न लेने दे।"[1] स्पष्टतया जो राज्य किसी के सीमावर्ती राज्य को हड़प लेगा वह उस हड़पे हुए राज्य से अधिक बलशाली एवं हानि पहुँचानेवाला होगा। इसी लिए सीमा पर अन्तःस्थ राज्य (buffer State) या आश्रित मित्र-राज्य बनाये रखने का प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चल पड़ा होगा। इसी अध्याय में पृ० १०९–११० पर श्लोक २१ से ३८ तक साम, दान, भेद और दंड इन चार उपायों के भिन्न-भन्न प्रयोग व्यक्ति-भेद से बताये गये हैं।

"मित्र, सम्बन्धी, स्त्री, पुत्र, प्रजा-शत्रु इन सबमें पृथक्-पृथक् साम-दान-भेद-दंड इनकी चिंता (विचार) अपनी युक्तियों से करे ॥२३॥"[2]

पृ० २०७, श्लोक ६५–६६ में संधि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय और द्वैधीभाव इन छः गुणों का जानना राजा के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया है और आगे के श्लोकों में इन गुणों की परिभाषाएँ तथा प्रयोग विस्तार से दिये गये हैं।

भारतीय नीति-शास्त्रियों ने क्रमानुसार तथा आवश्यकतानुसार प्रयुक्त करने के लिए जो चार उपाय साम, दान, भेद, दण्ड बताये हैं और जिनकी बारंबार भारतीय ग्रंथों में चर्चा मिलती है वे सैकड़ों वर्ष बाद अब भी सही हैं।

१. "स्वसमीपतरं राज्यं नान्यस्मात् ग्राहयेत्क्वचित् ॥८९॥"

—शुक्रनीति, श्लोक ८९, पृ० २१९

२. "सुहृत्संबंधिस्त्रीपुत्रप्रजाशत्रुषु ते पृथक्।
सामदानभेददंडाश्चिंतनीयाः स्वयुक्तिभिः ॥२३॥"

—शुक्रनीति, श्लोक २३, पृ० १०९

कूटनीति और राजनय—इन दोनों का स्वरूप और विवेचन देखना है तो किरातार्जुनीय में द्रौपदी, भीम तथा युधिष्ठिर का पारस्परिक वार्त्तालाप सुनिए। सर्वप्रथम शत्रु की प्रजा का हृदय जीतकर अपने पक्ष में कैसे करना चाहिए, इसके लिए दुर्योधन के राजसंचालनादि के सम्बन्ध में वताते हुए वनेचर से प्रथम सर्ग में कहलाया गया है। उसके प्रथम तीन सर्गों में भीम और द्रौपदी ने पाण्डवों की दयनीय दशा, दुर्योधन के उत्कर्ष तथा वैभव और द्रौपदी के अपमान का युधिष्ठिर को स्मरण दिला-दिलाकर तथा राजा के लिए क्रोध का महत्त्व वताकर युधिष्ठिर से जो उत्तेजनात्मक वाक्य कहे हैं वे कूटनीति के ही उदाहरण हैं। द्रौपदी का कथन सुनिए[1]—

"अपकारी शत्रुओं से प्रतिज्ञा-भंग का भय नहीं करना चाहिए। संधि में दोष दिखलाकर संधिपत्र की प्रतिज्ञा तोड़ डालनी चाहिए। इसमें राजा को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता ॥४५॥"

और भीम की गर्जना भी सुनिए[2]—

"शत्रु का क्षय शीघ्र होगा और अपना विलम्ब से होगा, ऐसा जानकर उपेक्षा कर देनी चाहिए किन्तु अपना नाश शीघ्र होगा और शत्रु का विलम्ब से होगा ऐसा समझकर प्रतिकार का प्रवन्ध शीघ्र करना चाहिए ॥९॥"

"पञ्चाङ्ग (सहायक, साधनोपाय, देशकाल का विभाग, विपत्ति का प्रतीकार) द्वारा निर्णय करके नीति से चलनेवाले राजा को द्रव्य और सेना का अभाव नहीं रहता। इस तरह की नीति राजा को कर्तव्य-पथ में निपुण वनाती है ॥१२॥"

१. "न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि संधिदूषणानि ॥"
(कि० श्लोक ४५, प्रथमसर्ग, पृ० ७४-७५)

२. "अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा ॥९॥"
"प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपंचांगविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते ॥१२॥"
(कि० श्लोक ९ और १२, द्वितीय सर्ग)

अब राजनय के उदाहरण के लिए युधिष्ठिर का गम्भीर कथन सुनिए कि जिस नीति की चर्चा संधि-विग्रहादि कार्यों का दिग्दर्शन कराते हुए भीम ने की वह सामान्य रूप से ठीक है, पर उसके अवान्तर भेद और भी हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है (श्लोक २९, पृ० १०८)। फिर विवेक और शान्ति का राजा के लिए महत्त्व बताते हुए क्रोध, अहंकार तथा मद के त्याग का विजय के लिए सर्वाधिक महत्त्व बताया है और शत्रुपक्षीय मंत्रिमंडल में स्वाभाविक विग्रह तथा जनता में स्वाभाविक असंतोष पर बल दिया है। श्लोक ३८, ४३ और ५२ में युधिष्ठिर के वाक्यों पर ध्यान दीजिए[1]—

"जो राजा मौका देखकर कभी कठिन और कभी मृदु व्यवहार करता है वह राजा सूर्य की तरह समस्त लोक पर अपना प्रभुत्व रखता है।"

(श्लोक ३८, पृ० ११७)

"भविष्य काल को उत्तम बनानेवाला, चिरस्थायी, हिंसा-दोषरहित, शत्रुओं का नाश करनेवाला, शान्ति के समान दूसरा कोई साधन नहीं है।"

(श्लोक ४३, पृ० ११७)

"नीति-कुशल राजा दुर्विनीत शत्रु की उन्नति की परवाह न करे, दुर्विनीत राजा प्रायः विपद्ग्रस्त हुआ करता है। उसे उस समय जीतना कठिन नहीं है। दुर्विनीत राजा की सम्पत्ति अनर्थकारिणी हुआ करती है।"

(श्लोक ५२, पृ० १३१)

धर्मयुद्ध और कूटयुद्ध—ये दो प्रकार के युद्ध शुक्रनीति के अध्याय ४ में बताये हैं। बलवान् शत्रु को नष्ट करने के लिए कूटयुद्ध को आदरणीय कहा है। वालि, कालयवन, नमुचि, ये सब कूटयुद्ध से मारे गये हैं (शु०, श्लोक ८१,

१. "समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥३८॥"
"उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः।
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥४३॥"
"मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥५२॥"
(कि० श्लोक, ३८, ४३ और ५८ पृ० ११७ और १३१)

पृ० २१८)। शत्रु की सेना में और जनता में फूट तथा असन्तोष फैलाने के तथा अपने वश में करने के भी अनेक उपाय बताये हैं। श्लोक ९२–९३ में यही कहा है कि शत्रु को परास्त करने पर पहले शत्रु की प्रजा को प्रसन्न करे और उसका पुत्रवत् पालन करे।

भारत में राजनयिक कला केवल सैद्धान्तिक साहित्य के रूप में अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथों के पृष्ठों तक ही सीमित नहीं थी। उसके व्यावहारिक प्रयोग में भी भारतीय अत्यन्त निपुण थे। चन्द्रगुप्त मौर्य को चाणक्य ने अपनी विद्या के प्रयोग के द्वारा ही भारतवर्ष का चक्रवर्ती सम्राट् बनाया था। महाकवि विशाखदत्त-कृत "मुद्राराक्षस" नाटक इसी कथानक पर आधारित है और राजनयिक, कूटनीतिक तथा राजनीतिक दाव-पेंचों के घात-प्रतिघात का भंडार है। मगध के राजसिंहासन के लिए चाणक्य और उसके विरोधी राक्षस की टक्कर अपने देश तक ही सीमित न होकर विदेशों तक फैल चुकी थी, यथा अफ़गानिस्तान, कश्मीर, सिन्ध, पारस। कल्हण द्वारा रचित "राजतरंगिणी" के पढ़ने से भी इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शक्तिशाली एवं कुशल भारतीय शासक नियमित रूप से तथा विशेष अवसरों पर दूतों की नियुक्ति विदेशों में करते थे जो गुप्तचरों (Spics) से भिन्न रहते थे। (द्रष्टव्य-राज-तरंगिणी, भारतमित्र प्रेस कलकत्ता से सं० १९५६ में प्रकाशित, पृ० १६, पैरा १२०, पृ० ८९, पैरा २६०, पृ० १०७, पैरा ४४०)

भारत में जब मुसलमानों या मुगलों का शासन स्थापित हुआ तब भी राजनयिक क्रिया वास्तविक आचाररूप में यहाँ थी किन्तु उसका व्यापक प्रयोग तभी होता था जब कि उक्त मुसलमानी या मुगल राज्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत नहीं रहता था और देश में अन्य और भी समान-शक्तिशाली छोटे राज्य रहते थे। किन्तु जब उक्त राज्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत या देशव्यापी रहता था तब राजनयिक क्रिया नगण्य जैसी रहती थी। यह बात अवश्य है कि ऐसे समय में भी यत्र-तत्र दूतों के आने-जाने की बात पढ़ने को मिलती है। मुहम्मद तुग़लक के समय में भारत-भ्रमणार्थ आया हुआ विदेशी इब्नबतूता जब यहाँ से वापिस जाने लगा तो उसे मुहम्मद तुग़लक ने चीनी सम्राट् की

राजसभा में दूत के रूप में भेजने की इच्छा प्रकट की थी।[1] इसी काल में चीनी सम्राट् ने भी अपना एक दूत कुछ धर्मस्थानों के पुनर्निर्माण कराने के लिए अनुमति प्राप्त करने के उद्देश्य से दिल्ली सुलतान के पास भेजा था। अकबर-राजपूत सम्बन्ध, विजयनगर-बहमनी राज्य सम्बन्ध आदि में भी दूतों के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं।

इसी भाँति मुगल शासन के वाद के दिनों में अर्थात् १८वीं सदी में तथा उसके वाद के समय में, जब भारतवर्ष कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होने लगा और जब अंग्रेज, फ्रेंच, पोर्तगीज आदि ने भी अपने उपनिवेश यहाँ बनाने एवं विस्तृत करने प्रारम्भ कर दिये, तब भी भारत में कुशल राजनयज्ञ और नीतिज्ञ दिखाई देते हैं। इस राजनयिक क्रिया में भाग लेनेवालों में अधिकतर मरहठों, सिक्खों, मुग़ल सम्राट्, नवाब वजीर अवध, दक्षिण की मुसलमान सल्तनतें, अंग्रेज, फ्रेंच आदि के नाम बारंबार आते हैं। इनमें भी बालाजीराव, नाना फड़नवीस, महादाजी सिंधिया, हैदरअली, टीपू, रणजीतसिंह बड़े ही कुशल राजनयज्ञों और नीतिज्ञों के रूप में प्रकट होते हैं।

सिक्खों का राजनीतिक इतिहास देखने से हमें कुशल राजनय या नीतिज्ञता के उदाहरण कहीं नहीं मिलते। हाँ, उनके राजनीतिक इतिहासकाल में यह अवश्य दृष्टिगत होता है कि वे बारंबार संमैत्री करते थे और फिर उसे भंग करते अथवा उसके विपरीत कार्य करते थे। ऐसी कितनी संमैत्रियाँ उन्होंने ईश्वर को साक्षी करके कीं किन्तु सब निरर्थक। यही कारण है कि उन्हें अविश्वसनीय और केवल लुटेरा समझा जाने लगा था। अधिक से अधिक उनके इस व्यवहार को कूटनीति की संज्ञा दी जा सकती थी किन्तु यह तभी संभव था जब वे किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व में निष्ठा रखते। इसके विपरीत वे अनेक परस्पर विरोधी दलों में बँटे हुए थे। वे जो राजनयिक प्रतिनिधि अपनी ओर से संधिवार्ता करने भेजते थे या दूसरे उनके पास भेजते थे उन्हें 'वकील' कहते थे और इनका उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। सन् १७७५ में अवध के नवाब वजीर ने कुँवरसेन को अपने वकील के रूप में पत्र लेकर

1. Cambridge History of India

सिक्खों के पास ज़बिता खाँ रुहेला को निष्कासित करने तथा उसके विरुद्ध संमैत्री करने के लिए भेजा था।[1] सन् १७८४ में ज़बिता खाँ के देश को जब सिक्ख लूटने पर उतारू हुए, उसने भी अपने 'वकील' उनके पास समझौते की शर्तों के सम्बन्ध में भेजे।[2] करमसिंह सिक्ख सरदार ने १७८४ में अपने लड़के को जेम्स ब्राउन के पास संधिवार्ता के लिए भेजा। सन् १७८५ में उन्होंने मुगल सम्राट् की ओर से महादाजी सिंधिया (वकील-ए-मुतलक) से संधि की किन्तु दूसरे ही क्षण अपने वकील और प्रतिनिधि सर जेम्स कमिंग और मेजर पामर के पास भी भेजे।[3] सिक्खों ने सन् १७८३ में जब दिल्ली पर आक्रमण कर तीन लाख रुपया सम्राट् से ऐंठ लिया तो अपने 'वकील' लखपतराय को उनके हितों पर दृष्टि रखने के लिए छोड़ गये। लखपतराय के द्वारा सिक्ख सरदारों ने तुरन्त अंग्रेज प्रतिनिधि जेम्स ब्राउन से पत्र व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया और वारेन हेस्टिंग्स ने जेम्स ब्राउन को दिल्ली में "सम्राट् की कृपा के लिए विभिन्न प्रतिस्पर्धियों के चरित्र, सम्बन्ध, प्रभाव और शक्ति" का पता लगाने के लिए नियुक्त किया था।[4] सिक्खों की यही दशा रणजीतसिंह के उत्कर्ष तक रही आयी। उसका दृष्टिकोण सदैव राष्ट्रीय रहता था और उसमें नीतिज्ञता के साथ-साथ आत्मसम्मान की भावना भी प्रबल थी। उसकी राजनयज्ञता या कूटनीति में भी अस्थायी या क्षुद्र स्वार्थों का सर्वथा अभाव था। जब अफ़ग़ानिस्तान के शाह शाहज़मान का आक्रमण भारत पर होनेवाला था तो उसने मराठा सरदार दौलतराव सिंधिया की सहायता प्राप्त करने की इच्छा से एक संदेश सिंधिया के मित्र निज़ामुद्दीन के पास भेजा। वह जानता था कि मराठा सेना के कूच करने से परस्पर बँटे हुए सिक्ख सरदारों को उसकी सहायता के लिए आना पड़ेगा।[5]

इसके विपरीत मराठा इतिहास से विदित होगा कि रणकौशल के साथ

1. History of the Sikhs, vol. II, p. 63-64, by H. R. Gupta, 1944
2. Ibid, p. 157
3. Ibid, p. 183-185
4. Ibid, p. 142-143
5. History to the Sikhs, vol. III, p. 58

उनमें राजनयिक पटुता भी बहुत थी। छत्रपति शिवाजी स्वयं एक कुशल नीतिज्ञ और राजनयज्ञ थे, यह उनके जीवन से परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है। मराठा शासकों, विशेषकर पूना दरबार की ओर से देश के सभी प्रमुख राजाओं के यहाँ उनके राजनयिक प्रतिनिधि (अस्थायी या स्थायी) रहते थे या भेजे जाते थे। दिल्ली में तो स्थायी प्रतिनिधि रहते थे जो वहाँ की गति-विधियों की सूचनाएँ नियमपूर्वक पूना भेजा करते थे।[1] सम्राट् की ओर से जयसिंह ने मराठों से सन् १७३० में शान्ति संधि करनी चाही तो उसके लिए छत्रपति साहू की ओर से दादा भीमसेन राजनयिक दूत था।[2] १७३९ में अंग्रेजों ने गारडन को और फिर इंचवर्ड को पूना दरबार भेजा जिससे सन् १७४० में सन्धि हुई किन्तु उसका अनुसमर्थन बाद के पेशवा ने किया। इसी काल में एक कुशाग्रबुद्धि ब्राह्मण राजनयज्ञ रामदास पंत का नाम सुनने में आता है जिसकी सहायता के कारण फ्रेंच जनरल बुसी ने सलावतजंग को निजाम घोषित किया और डूप्ले के द्वारा उसे राजा रघुनाथदास की पदवी दी गयी।[3] सन् १७५९ में स्वयं पेशवा की इच्छा के कारण पूना में पहला अंग्रेज राजदूत डब्लू० ए० प्राइस नियुक्त किया गया जिसे ६ प्रमुख समस्याओं पर विचार करके हल निकालना था। द्वितीय अंग्रेजी राजदूत भी पेशवा की इच्छा के कारण सन् १७६७ में भेजा गया। उसका ऊपरी उद्देश्य कुछ और था किन्तु वास्तव में लक्ष्य यह था कि मराठों और हैदरअली एवं निजामअली में किसी भी तरह संमैत्री न हो पाये। सन् १७७२ में मास्टिन (Mostyn) को इंग्लैंड से वापिस राजदूत के रूप में पुनः भेजा गया और उसे यहाँ तक अधिकार दिये गये कि वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मनचाहा अर्थ व्यय भी कर सकेगा।[4]

जब अमेरिकन उपनिवेशों ने ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्रता घोषित कर दी और फ्रांस ने इंग्लैंड से युद्ध घोषित कर दिया तो नाना फड़नवीस ने इसका

1. History of the Sikhs, vol. II, p. 161
2. New History of Marathas, vol. II, p. 142, Sardesai
3. Ibid. p. 320
4. Introduction to 'The Third English Embassy to Poona', Ed. by J. H. Gense R. D. R. Banaji Bombay, 1934

लाभ तुरंत उठाया और फ्रांस से मित्रता बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। वहाँ हैदरअली ने भी इससे लाभ उठाकर फ्रांस की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। नाना ने अंग्रेजों पर दबाव डालने की इच्छा से सन् १७७७ में भारत में आये हुए फ्रेंच व्यापारी सेंट लूबिन का बड़ा स्वागत किया। सन् १७७९ में अंग्रेजों द्वारा फ्रेंचों से माहे छीन लेने से हैदरअली चौकन्ना और रुष्ट हो गया क्योंकि वहीं से उसे मनुष्यों और शस्त्रों के रूप में मुफ्त फ्रांसीसी सहायता मिलती थी। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर निजाम के कहने से तथा देश में अंग्रेजों के विगत व्यवहार को देखते हुए नाना ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक व्यापक संगठन (Confederacy) तैयार किया। सर्वप्रथम हैदरअली के विरुद्ध मराठों का युद्ध उसने बंद करवा दिया। इस संगठन को हैदरअली, निजाम, नागपुर के भोंसला, मुगल सम्राट्, जंजीरा के सिद्दी, फ्रेंच, पोर्तगीज आदि का समर्थन प्राप्त था। नाना ने वास्तव में प्रत्येक का कार्य सुनिश्चित रूप से बाँट दिया था किन्तु नागपुर के भोंसला के सलाहकार दिवाकर को अंग्रेजों के रुपयों ने जीत लिया और फिर परिणाम सबको मालूम है।[1]

महादाजी सिंधिया की राजनयिक निपुणता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उसे मुगल सम्राट् ने पेशवा के प्रतिनिधि के रूप में वकील-ए-मुतलक (Regent Plenipotentiary) या पूर्णाधिकार प्राप्त अमात्य नियुक्त किया। इससे पहले इसके केवल तीन उदाहरण अकबर, शाहजहाँ और बहादुरशाह प्रथम के समय में मिलते हैं। इस नियुक्ति के बाद महादाजी ने इतनी कुशलता से, शान्तिपूर्ण ढंग से, किन्तु दृढ़ता के साथ सिक्खों से व्यवहार किया कि अन्त में उसके हित में अत्यधिक सम्माननीय संधि भी हो गयी; इस हेतु उसके कुशल दूत इंगले, मल्हार और अम्बाजी थे।[2]

शाह जमानशाह ने जब पहला आक्रमण भारत पर करना चाहा तो उसने बहुत से अभिकर्ता भारत के विभिन्न राजदरबारों में वातावरण की परख और अपने पक्षसमर्थन के लिए भेजे थे। उसे आमंत्रित करनेवालों में टीपू

1. New History of Marathas, vol. II, ph. 178-179, 181-183
2. History of the Sikhs, vol II, pp. 178-179, 181-183, H. R. Gupta

सुलतान भी एक था जिसका एक राजदूत उस समय काबुल में था जिसे आवश्यकता पड़ने पर द्रव्य भी व्यय करने का अधिकार दिया गया था।[1]

ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। किन्तु यह कुशलता होने पर भी भारतीय अंग्रेजों के सम्मुख असफल क्यों हुए ? वैमनस्य, फूट, देशद्रोह, स्वार्थ, विलासिता आदि के कारण।

आज स्वतन्त्रता के बाद भी पाश्चात्य राजनीतिक गतिविधियाँ भली भाँति परखनेवालों में प्रमुख भारतीय नीतिज्ञ पं० नेहरू, राजगोपालाचारी, सरदार पनिक्कर, वी० के० कृष्ण मेनन को तो सभी जानते हैं। और अब भारत में एकछत्र शासन भी है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से वह उदासीन नहीं है। उसकी नीति सक्रिय तटस्थता की नीति कही जाती है। तटस्थ इसलिए कि नवीन और सैनिक दृष्टि से दुर्बल होने के कारण भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तनावपूर्ण और द्विदलीय राजनीति से बचकर रहना ही लाभदायक है। परन्तु सक्रिय इसलिए कि आज जब कि समस्त पृथ्वी सिमटकर छोटी हो गयी है, परिस्थितियाँ ऐसी हो गयी हैं कि कोई देश पूर्णतया तटस्थ नहीं रह सकता और यदि तटस्थ रहने की चेष्टा भी करे तो प्रायः असफल रहेगा। युद्ध-काल में तो तटस्थ रहना इस हाइड्रोजन बम, नकली चन्द्रमा तथा अन्तर महाद्वीपीय दूरमारकों के युग में असंभवप्राय हो गया है। इसलिए भारतीय राजनय विश्व-युद्ध को रोकने में इतना प्रयत्नशील है और शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन लेकर चल रहा है। साथ ही वह अपने समीपस्थ एक मित्र-वर्ग को भी तैयार करने का प्रयत्न बराबर कर रहा है यद्यपि वह इसमें पूर्णतया सफल नहीं हो सका है। भारतीय राजनय पर भी यहाँ की भौगोलिक, ऐतिहासिक और परम्परागत अथवा संस्कारविषयक परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव है। हाँ, उसमें आदर्शवाद की मात्रा अधिक है जो दोष की उस सीमा तक पहुँचती है जहाँ अपनी अकर्मण्यता और दुर्बलता को भी आदर्शवाद का चोंगा पहनाया जाता है और इसके लिए भारतीय परम्परा भी उत्तरदायी है। इसी आदर्शवाद से सम्बन्धित एक और गुण भारतीय राजनय में है और वह है

1. Ibid. vol. III

आशावादिता, तथा अपने लक्ष्य की ओर पूर्ण अथक प्रयास। दूसरों के दृष्टिकोण को समझना और निष्पक्षतापूर्वक विचार कर सकना, साहस, आत्मसम्मान, निर्भीकता तथा सहिष्णुता—ये उसके अन्य गुण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सह-अस्तित्व की नीति को अपनाने तथा प्रचार करनेवाले भारतवर्ष के लिए उसके राजनय में उपर्युक्त गुण ही अभीष्ट भी हैं। इन्हीं गुणों के परिणामस्वरूप भारतीय राजनय न केवल संयुक्त राष्ट्र-संघटन और उसकी शाखाओं में ही वरन् उनके बाहर भी प्रत्येक मंच पर संघर्ष छेड़ रहा है। उनमें वह सफल या असफल होता है यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है वरन् वास्तविक महत्त्व की बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्वचित् ही प्रयुक्त होनेवाले शान्तिपूर्ण उपायों के सच्चे और विशुद्ध प्रयोग का अधिकाधिक प्रचार करने का श्रेय भारतीय राजनय को ही है। सफलता की दृष्टि से भी कोरिया और हिंदचीन के प्रश्नों में तथा सोवियत रूस का लौह आवरण हटाने में भारत ने जो पार्ट अदा किया वह स्मरणीय है। भारत-जैसे नये देश को संयुक्त-राष्ट्र-संघटन में तथा उसकी अन्य शाखाओं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदों का भार सौंपा जाना कोई साधारण बात नहीं है, जब कि अनेक देश प्रयत्न करने पर भी उक्त संस्थाओं में प्रवेश नहीं पा सक रहे हैं। 'जेनेवा-सम्मेलन' और 'चार बड़ों का सम्मेलन' होना, सो भी सफल रूप में होना, क्या विशेष रूप में श्रेयस्कर नहीं है? और क्या इसके लिए भारत का तथा अन्य सहयोगी राष्ट्रों का राजनय प्रशंसनीय नहीं है?

यह हमारी परम्परानुसार शांतिपूर्ण, तटस्थ वैदेशिक नीति का और उसे कार्यरूप में यथाशक्ति परिणत करनेवाले भारतीय नीतिज्ञ एवं राजनयज्ञों के अथक श्रम का ही परिणाम है कि भारत शनैः शनैः राष्ट्रसमाज में अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बनाता जा रहा है, यद्यपि इसके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित अन्य कारण भी हैं। भारत के प्रधान मंत्री पं० नेहरू को अमेरिका, लाल चीन, सोवियत रूस जैसे महान् राष्ट्रों के शासनों द्वारा भ्रमणार्थ आमंत्रित किया जाना और बदले में चीन के प्रधान मंत्री चाउ एन लाई और सोवियत रूस के प्रधान मंत्री बुल्गानिन का मैत्रीस्वरूप भारत भ्रमण हेतु आना भारत के बढ़ते हुए महत्त्व का ही द्योतक है। विशेष महत्त्व की बात यह है कि पं० नेहरू ही प्रथम असाम्य-वादी विदेशी प्रमुख व्यक्ति थे जिनका सोवियत रूस में राजकीय और अभूतपूर्व

जनस्वागत किया गया और भारत ही वह प्रथम देश है जहाँ सोवियत रूस के प्रधान मंत्री संसार में पहली बार अपने देश से बाहर पहुँचे।

इससे भी महत्त्वपूर्ण जो घटना है वह है पं० नेहरू द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक समागम तथा शांति-स्थापना के लिए पाँच मूलभूत सरल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाना अथवा प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का पुनरुल्लेख नवीन ढंग से किया जाना और उन्हें घोषित कर अन्य राष्ट्रों को भी उन्हें स्वीकार करने के लिए आमंत्रित करना। इन पाँच सिद्धान्तों को "पंच-शील" कहा जाता है और विश्व के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्र इन्हें स्वीकार कर घोषित कर चुके हैं। अब तक बर्मा, हिन्द एशिया, चीन, सोवियत रूस, यूगोस्लाविया, मिस्र, सऊदी अरेबिया आदि इन्हें स्वीकार कर चुके हैं। स्मरण रहे कि चीन और सोवियत रूस के प्रधान मंत्रियों तथा यूगोस्लाविया के प्रेसीडेन्ट (मार्शल टीटो) तीनों में से प्रत्येक ने पं० नेहरू के साथ मिलकर एक ही वक्तव्य द्वारा 'पंचशील' को स्वीकार किया है। इसी 'पंचशील' को एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों के बांडुंग सम्मेलन (अप्रैल १९५५) में एकत्रित राष्ट्र-प्रतिनिधियों ने भी कुछ हेर-फेर से स्वीकार कर लिया और परस्पर अपनी वैदेशिक नीति को उन्हीं पर आधारित करने का बीड़ा उठाया। ये पाँच-सिद्धान्त इस प्रकार है[1]—

१—एक-दूसरे की राजक्षेत्रीय अखंडता तथा परम सत्ता के प्रति पारस्परिक सम्मान।

२—अनाक्रमण।

३—एक-दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।

४—समानता तथा पारस्परिक हित

५—शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

1. 1. Mutual respect for each other's territorial integrity and Sovereignty;

2. Non-aggression;

3. Non-interference with each other's internal affairs:

4. Equalily and mutual benefit and

5. Peaceful coexistence.

युग-युग से 'ॐ शान्तिः शान्तिः' का पाठ पढ़ानेवाला शान्तिदूत भारत अपने सच्चे स्वरूपानुसार पुनः शान्ति-पथ पर नित्य प्रति अधिकाधिक दृढ़ता से बढ़कर सबका पथ-प्रदर्शन करता जायगा, ऐसा विश्वास आज सबको है।[1]

१. भारत की वर्त्तमान वैदेशिक नीति कोई स्वतंत्रता के बाद अचानक उत्पन्न हुई नीति नहीं है वरन् सन् १९२७ के कांग्रेस-अधिवेशन में इसकी नींव डाली जा चुकी थी, जैसा कि स्वयं पं० नेहरू ने १५ जनवरी सन् १९५५ को मद्रास में एक पत्रकारसम्मेलन में बताया था

८

सफल राजनयज्ञ

वही राजनयज्ञ सफल कहा जा सकता है जो सामान्य स्वराष्ट्रहितों अथवा तत्सम्बन्धी किसी उद्देश्यविशेष की प्राप्ति में इस प्रकार सफलता प्राप्त करे कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके देश के प्रति यथासंभव कम-से-कम वैमनस्य या कटुता की भावना जाग्रत हो अथवा उसकी वृद्धि न हो। इसके लिए राजनयज्ञ में जो गुण होने चाहिए उनमें से विशेष-विशेष पर नीचे विचार किया गया है। इन्हीं गुणों का अति सुन्दर सूक्ष्म विवरण मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, शुक्रनीति आदि में दिया गया है जिनमें से कुछ श्लोक पिछले पृष्ठों में उद्धृत किये जा चुके हैं।

सर्वप्रथम ध्यान में रखने योग्य बात तो यह है कि प्रत्येक राजनयज्ञ को, जो सफल राजनयज्ञ कहा जा सकता है, उन सब साधारण कर्त्तव्यों का पालन ईमानदारी से और कौशलयुक्त ढंग से करना चाहिए जिनकी अपेक्षा प्रत्येक राजनयज्ञ से अनिवार्यतः की जाती है। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

उसके परिग्राहक राज्य (receiving State) में स्थित उसके निज देश के नागरिकों की जन्म-मृत्यु और विवाह को पञ्जीवद्ध करना।

अपने देश के किसी अपराधी (राजनीतिक अपराधी के अतिरिक्त) को बंदी बनाकर वापिस स्वदेश भिजवाने के लिए परिग्राहक राज्य के परराष्ट्र-विभाग से अनुरोध करना या आवश्यक परामर्श करना।

स्वदेशीय नागरिकों के हितों की रक्षा करना और उन्हें पारपत्र देने का कार्य करना।

परिग्राहक राज्य की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का गूढ़ अध्ययन तथा उनके विषय में निरपेक्ष रूप से अपनी सरकार को अवगत कराना; अपने राज्य की नीति को परिग्राहक राज्य के प्रति स्पष्ट करना और अपने राज्य के अधिपति या विदेशमंत्री की ओर से, उससे होनेवाली प्रत्येक प्रकार की संधिवार्ता में, प्रतिनिधित्व करना, आदि-आदि।

राजनयज्ञ में वे गुण भी अनिवार्यतः होने चाहिए जो प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य-भार सम्हालनेवाले व्यक्ति में अपेक्षित हैं, जैसे—बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता, सूझ-बूझ, चातुर्य, साहस, कार्य-कौशल, लगन और अथक परिश्रम। अन्तर्राष्ट्रीय विधि और इतिहास का उसे विशिष्ट रूप से ज्ञाता भी होना चाहिए।

सिद्धान्तरूप से प्रत्येक राजनयज्ञ को अपने देश के उद्देश्य की पूर्ति पर सर्वाधिक ध्यान रखना चाहिए। किन्तु इस लक्ष्य-पूर्ति में उसे अपनी स्वतंत्र सम्मति या नीति न अपनाकर स्वराष्ट्र-शासन द्वारा निर्धारित नीति का ही ईमानदारी से पालन करना चाहिए। अपनी सरकार की नीति से सहमत न होने पर भी उसे किसी भी प्रकार विदेशी शासन पर अपने मतवैभिन्न्य को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। भले ही वह अपने शासन से कुशल ढंग से अपने मन्तव्य को, जानकारी देने की दृष्टि से ही, प्रकट कर दे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी राजनयिक प्रतिनिधि को अपने परिग्राहक राज्य (Receiving State) की विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों आदि के विषय में अपने शासन को केवल उतनी ही सूचनाएँ भेजनी चाहिए जितनी कि उस शासन को अच्छी लगें या मिथ्या आत्म-संतोष दिला सकें। इसके विपरीत उसे उक्त (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि) परिस्थितियों का गंभीर और निरपेक्ष भाव से अध्ययन करके वस्तुस्थिति की ठीक-ठीक सूचना भेजनी चाहिए भले ही ऐसी सूचना से उनका शासन ऐसे प्रतिनिधि के सम्बन्ध में भ्रामक धारणा बना ले। ऐसा प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भेजने पर भी स्वराष्ट्रीय शासन उस दूत की सलाह की अवहेलना कर सकता है और ऐसा करने के अनेक कारण हो सकते हैं। राजनयिक दूत को अपने प्रतिवेदन को सम्बन्धित विषय पर अंतिम सत्य नहीं समझ लेना चाहिए। अपने राज्य की नीति से परिग्राहक राज्य और उसकी जनता को अवगत कराना भी उसका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। जनता को अवगत कराने का कर्त्तव्य इस प्रजातंत्रात्मक युग के प्रभावों का परिणाम है।

राजनयिक दूत को अपने परिग्राहक राज्य के विश्वास और सम्मान का पात्र बनना भी बड़ा आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करना अत्यंत कठिन हो जायगा। ऐसा विश्वासपात्र वह तभी बन सकता है जब कि उसकी नैतिकता में परिग्राहक राज्य को पूर्ण भरोसा हो। सत्य व्यव-

हार, अर्थात् दुरंगी नीति का परित्याग और सुनिश्चित भावार्थी स्पष्ट भाषा का प्रयोग, सबसे बड़ा नैतिक गुण है और इस विषय में प्रायः सभी अनुभवी सफल एवं महान् राजनयज्ञ तथा विद्वान् एकमत हैं, जैसे प्रसिद्ध फ्रांसीसी राजनयज्ञ मोशियो कैलियेर, जूले केम्बां और इंग्लैंड के लार्ड माम्सबरी ।[1] परन्तु इस विषय पर बड़ा मतभेद भी रहा है।

शान्ति और धैर्य भी सफल राजनयज्ञ के लिए अनिवार्य गुण हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध राजनयज्ञ और नीतिज्ञ (Statesman, राजनेता) तैलेराँ (Telley-rand) ने उत्तेजना में भरकर कार्य करने के विरुद्ध सलाह दी है। जूले कैम्बां की राय में भी "धैर्य सफल राजनयज्ञ का अनिवार्य गुण है।" स्वयं उनके भाई पाल कैम्बां शान्ति के अवतार और महान् राजनयज्ञ थे। क्रोध और उत्तेजना से साधारण व्यक्ति के समान राजनयज्ञ को भी बड़ी हानि उठानी पड़ती है। इसका इतिहासप्रसिद्ध उदाहरण नैपोलियन और आस्ट्रिया के प्रधान मंत्री मैटरनिक के बीच की सन् १८१३ की एक घटना है जिसमें नैपोलियन का अत्यधिक क्रुद्ध हो जाना उसके लिए अत्यंत हानिकारक सिद्ध हुआ।

शान्ति के साथ राजनयज्ञ में दृढ़ता और आत्म-सम्मान की भावना भी होनी चाहिए। सरदार पनिक्कर का कथन है कि धैर्य की कठिन परीक्षा मूर्खता के बराबर कोई नहीं लेता किन्तु अधैर्य से अधिक मूर्खता भी कोई नहीं है।

राजनयज्ञ को शीलयुक्त एवं विनम्र होना चाहिए। अहंकार की कमी होने से वह अनेकों भयंकर भूलें करने से बचा रहता है क्योंकि वह बड़े सोच-समझकर कार्य करता है। दूसरों का दृष्टिकोण समझने की इच्छा और क्षमता भी इसी से सम्बन्धित गुण है। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह अपने पदानुकूल सम्माननीय और शोभनीय वस्त्र-परिधान आदि भी काम में न लाये और सदैव अनौपचारिकता ही पकड़े रहे। यदि किसी राजनयज्ञ में धैर्य और विनम्रता है तो वह आश्चर्यजनक सफलता या नाटकीयता प्राप्त करने की

1. कैलियेर (Callie'res) और माम्सबरी ने सफल राजनयज्ञ बनने के लिए जो गुण बताये हैं उनकी विस्तृत चर्चा के लिए देखिए A Guide to Diplomatic Practice—Satow, Chap. XI.

कोशिश भी नहीं करेगा जो गुण नहीं वरन् त्रुटियाँ हैं। तैलेराँ ने अत्यधिक सम्यक् सफलता प्राप्त करने के विरुद्ध चेतावनी दी है।

राजनयज्ञ को यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सभी प्रकार के प्रश्नों पर एक-सी दृढ़ता अपनाना उचित नहीं। छोटे-छोटे अर्थात् अपने लिए कम महत्त्व के प्रश्नों पर ऐसी नीति अपनानी चाहिए कि भविष्य में जब कोई वास्तव में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हो तो दूसरा पक्ष अपनी बात सरलता से मान ले। यदि साधारण बातों में भी अपनी रुचि के अनुसार हल ढूंढ़ने का हठ किया तो ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों में कुछ प्राप्ति नहीं होती। इसलिए सभी विषयों पर अपनी बात रखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

उसे किसी बात में बाल की खाल निकालने या अत्यधिक टीका-टिप्पणी करने की मनोवृत्ति नहीं अपनानी चाहिए। किसी भी कार्य के सम्पादन के लिए उसे कैसे अवसर पर तथा किस अनुपात में करना इसका ज्ञान अर्थात् अवसर-ज्ञान एवं अनुपात-ज्ञान होना चाहिए। स्थानीय परिस्थितियों का अध्ययन करके किस समय किस ढंग से कार्यारम्भ करना इस विषय में जब तक राजनयज्ञ निपुण नहीं होगा तब तक वह किसी संधिवार्ता में अपने उद्देश्य की प्राप्ति भी नहीं कर सकता।

अपने विरोधी पक्ष को दुर्बल, मूर्ख या अज्ञानी कभी नहीं समझना चाहिए।

राजनयज्ञ को लेखन-कला में, विशेषतः स्पष्ट विचार-अंकन में, कुशल होना चाहिए क्योंकि उसे नित्यप्रति विभिन्न प्रकार की टिप्पण-टिप्पणियाँ, प्रतिवेदन आदि लिखकर अपने शासन को भेजने पड़ते हैं अथवा परिग्राहक राज्य को प्रस्तुत करने पड़ते हैं। साथ ही उसके लिए कुशल वक्ता तथा प्रत्युत्पन्नमति होना भी अत्यधिक आवश्यक है।

उसे अपने भावों पर इतना नियंत्रण रखना चाहिए कि उसकी मुख-मुद्रा से अथवा वाणी से उसके हृदय की बात न भाँपी जा सके।

किसी भी प्रश्न का उत्तर देने में उसमें यह क्षमता होनी चाहिए कि उसके उत्तर सदैव उसकी सरकार की नीति के अनुसार या प्रायः अनुकूल हों। जब ऐसा करने में वह असमर्थ हो तो कुशलता से वह समय टाल देना चाहिए अथवा फिर समय प्राप्त कर लेना चाहिए।

अपने व्यक्तिगत विचारों के कारण उसे दूसरे पक्ष से किसी प्रकार का ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखना चाहिए और न ऐसे ईर्ष्या-द्वेष का प्रभाव उसके राजनयिक कर्त्तव्य-पालन पर पड़ना चाहिए। इतर पक्ष के तर्क यदि सारहीन हों तो उनसे क्रुद्ध न होकर उनके पीछे छिपी कार्य करनेवाली मनोवृत्ति को समझना चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए। किसी बात का विरोध कटुता तथा उग्रता से नहीं होना चाहिए बल्कि विरोध दृढ़ होते हुए भी मधुर हो सकता है।

आत्म-श्लाघा और अहंकार से दूर रहकर अपनी भूल स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिए।

कुछ ऐसी व्यावहारिक बातें भी हैं जिन्हें अपनाकर कोई भी राजनयज्ञ अपनी सफलता में सहायक बन सकता है। सामाजिक समारोहों का आयोजन एक ऐसा ही साधन है जिसमें एक राजनयज्ञ को अन्य राजनयज्ञों के साथ सम्मिलित होकर एक-दूसरे को समझने का अवसर प्राप्त होता है और औपचारिक या अनौपचारिक ढंग से कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता है। अतएव प्रत्येक राजनयज्ञ को ऐसे समारोहों का आयोजन समय-समय पर करते रहना चाहिए। इसके लिए उसका अत्यंत मिलनसार, सहृदय, सुसंस्कृत, शिष्ट और परिष्कृत रुचिवाला होना अत्यावश्यक है। उसे सदा शिष्ट और प्रभावोत्पादक परिधान से रहना चाहिए। परन्तु यह सफलता का अंतिम मापदंड नहीं है। फिर भी आजकल ऐसे समारोहों का बाहुल्य होता जा रहा है, यहाँ तक कि सोवियत रूस के प्रधान मंत्री तथा अन्य मंत्री आदि भी अब राजनयिक समारोहों (भोज आदि) में खुलकर सम्मिलित होने लगे हैं जिसके प्रत्यक्ष लाभ भी परिलक्षित हो रहे हैं।

सरदार पनिक्कर ने अपने तथा दूसरों के अनुभव के आधार पर राजनयज्ञ को सफल होने के लिए कई व्यावहारिक सुझावों के साथ एक सलाह यह भी दी है कि उसे स्त्रियों से सब प्रकार की सहायता लेनी चाहिए, क्योंकि समाज में उनका एक विशेष स्थान होने के कारण उनसे संधिवार्ता या स्वदेश-हित की पूर्ति में अत्यधिक सहायता मिल सकती है।[1] वास्तविकता की दृष्टि से यह सलाह बिलकुल ठीक भी है क्योंकि प्रकृति ने स्त्री में कुछ ऐसे गुण या विशेषताएँ

1. Principles and Practice of Diplomacy-K. M. Penikkar

भर दी हैं जो पुरुष के पास नहीं हैं और जिनके कारण स्त्री को किसी लक्ष्यप्राप्ति में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं पड़ती। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्त्रियों का उपयोग अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ कराने में और उसकी रक्षा करने में इस उपाय का यथेष्ट अवलम्बन लिया था। भारत में विषकन्याओं का प्रयोग इतना प्राचीन है कि वह स्वयं एक स्वतंत्र खोज का विषय है।

सरदार पनिक्कर ने अपनी पुस्तक 'राजनय के सिद्धान्त तथा आचार' में कुछ ऐसी सलाहें भी दी हैं जो व्यावहारिकता की दृष्टि से तो उचित और लाभ-दायक हो सकती हैं किन्तु नैतिकता की कसौटी पर कसी जाने पर वे खरी नहीं उतर सकतीं। वे नीचे दी गयी हैं—

१—अपने स्वार्थ को सर्वसाधारण के हितों का रूप देकर जनता के समक्ष प्रस्तुत करना।

२—सदैव अपने को "आहत पक्ष" के रूप में प्रकट करना अर्थात् ऐसा प्रकाशित करना मानो क्षति आपकी ही हुई हो, भले ही वास्तव में क्षति दूसरे पक्ष की हुई हो।

३—शत्रु को कुख्यात करने के लिए उस पर उन्हीं दुर्गुणों का आरोप करना जो स्वयं अपने में हों।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, प्रसिद्ध मैकियावली की यह सलाह अवश्य अनुकरणीय है कि जब किसी की भलाई करनी हो तो उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में करे और अहित करना हो तो सबका सब एक साथ कर डालना चाहिए।

राजनयिक सेवा में प्रविष्ट होनेवालों को अर्ल ऑफ़ माम्सबरी की सर्वप्रथम और सर्वोत्तम अनुभूत सलाह यह है कि राजनयज्ञ को केवल सुनना चाहिए, बोलना नहीं चाहिए। बोले भी तो अधिक-से-अधिक उतना ही जिससे दूसरों को बोलने का प्रोत्साहन मिले। इससे दूसरों से बहुत-सी बातों का पता तो लग जाता है, जब कि अपने मन की बात दूसरों को मालूम नहीं हो पाती।[1]

माम्सबरी की दूसरी सलाहें इस प्रकार हैं—[2]

1-2. Extract from the letter of Earl of Malmsbury to Lord Camden given on p. 96 of 'A Guide to Diplomatic Practice', by Satow.

"किसी भी देश या राजसभा में ऐसे व्यक्तियों से अत्यधिक सावधान रहना चाहिए जो राजनयज्ञ के यहाँ प्रथम पदार्पण में ही उनसे परिचय बढ़ाने के लिए सर्वाधिक उत्सुक रहते हैं; और न विदेश में किसी से विशेष मोह बढ़ाना चाहिए।

जिस देश में राजनयज्ञ हो उसके आचार-व्यवहार का उपहास नहीं करना चाहिए उलटे वहाँ की भाषा सीखकर उसी ढंग से कार्य करना चाहिए।

राजनयज्ञ को अपने गूढ़-लेख (Cypher) और अन्य कार्यालयविषयक अभिलेख ताले में बंद कर अत्यधिक सुरक्षित रखने चाहिए, किन्तु इस सम्बन्ध में दर्पोक्ति भी नहीं करनी चाहिए।

परिग्राहक राज्य के किसी वास्तविक या काल्पनिक सम्मान आदि से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

अपनी उद्देश्य-प्राप्ति का कितना भी लोभ क्यों न हो, उसकी पूर्ति के लिए कभी भी झूठ का सहारा न तो लेना चाहिए और न वह आवश्यक है।"

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उत्कोच का प्रयोग करना चाहिए या नहीं, इस पर मतभेद है, क्योंकि कुछ लोग उपहार देकर भी उद्देश्य प्राप्त करने को अनैतिक मानते हैं।

उसे सूक्ष्मद्रष्टा, शिष्ट, दृढ़ तथा उतावलेपन से रहित भी होना चाहिए।[1]

1. Old Diplomacy and New, by A. L. Kennedy, London, 1922

९

राजनयिक प्रक्रिया

राजदूत-नियुक्ति

राजदूत आदि राजनयिक संदेशवाहकों की नियुक्ति विभिन्न देशों में विभिन्न अधिकारियों द्वारा की जाती है। एकराजाधिपतीय देशों में स्वयं एकराजाधिपति उनकी नियुक्ति करता है तो प्रजातांत्रिक देशों में राष्ट्रपति, विदेशमंत्री (स्वयं या मंत्रिमंडल की सलाह से) या तद्विपयक समिति के द्वारा ऐसी नियुक्तियाँ की जाती हैं। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र जहाँ प्रारंभ हो जाता है वहाँ तो अंतर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ही कार्यवाही करनी पड़ती है।

जब किसी राजनयिक प्रतिनिधि की नियुक्ति कोई देश करता है तो सम्बन्धित व्यक्ति के विषय में पूर्णतया संतुष्ट हो लेने के पश्चात् सर्वप्रथम अनधिकृत रूप से उसके विषय में उस देश के शासन की राय जान ली जाती है जहाँ उसे नियुक्त किया जा रहा है। यदि यह राय उक्त व्यक्ति के अनुकूल हुई तो उस देश के शासन का "समनुमोदन" मिल जाता है, जिसके लिए राजनय में फ्रांसीसी भाषा का शब्द "आग्रिमां" (Agre'ment) प्रयुक्त होता है। जिस व्यक्ति के विषय में ऐसा "समनुमोदन" मिल जाता है उसे "परसोना-ग्रेटा" (Persona Grata) कहते हैं, जिसका शब्दार्थ हिन्दी में 'अभीप्ट' या 'अभिप्रेत व्यक्ति' होता है, किन्तु उसे इन पृष्ठों में "परिग्राह्य व्यक्ति" ही कहा गया है।

उक्त समनुमोदन प्राप्त हो जाने पर और राजनयिक प्रतिनिधि को तत्सम्बन्धी सूचना प्राप्त हो जाने पर उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विदेशमंत्री या अन्य सम्बन्धित पदाधिकारी से मिलकर भविष्य के लिए मुख्य-मुख्य आदेश-निर्देश प्राप्त करें[1] और विदेशविभाग या राज्याभिलेखागार से गन्तव्य देश

१. आज के तार-टेलीफोन युग के पूर्व ये आदेश लिखित रूप में दिये जाते थे और गंतव्य स्थान पर पहुँचकर दूत को उन्हीं के आधार पर अपनी बुद्धि के प्रयोग का पूरा-पूरा अवसर मिलता था। अब यह कार्य मौखिक ही होता है।

के विषय में राजनीतिक, राजनयिक, आर्थिक अथवा सामाजिक जानकारियाँ विशिष्ट रूप से प्राप्त करे। इस प्रकार से तैयार होकर उक्त राजनयिक दूत गन्तव्य देश में अपने पहुँचने के समय और तिथि की सूचना उक्त देशस्थित अपने राजदूतावास के कर्मचारियों को भेज देता है। यदि कोई देश किसी देश में पहले-पहल ही प्रणिध्यावास (Legation) खोलता है तो राजनयिक प्रतिनिधि के साथ-साथ उस प्रणिध्यावास के विभिन्न कर्मचारियों की भी नियुक्ति का किया जाना स्वाभाविक है। प्रणिध्यावास के इन सदस्यों की एक सूची नियुक्त राजनयिक-प्रतिनिधि परिग्राहक राज्य के परराष्ट्र-विभागीय सचिव के समक्ष उस समय प्रस्तुत कर देता है जब कि उसका स्वतः का परिग्रहण कार्य पूर्ण हो जाता है।

ऐसे दूत को उसकी सरकार का सम्बन्धित पदाधिकारी उसकी नियुक्ति-विषयक पत्र देता है जिन्हें "प्रत्यय-पत्र" (Letters of Credence) कहते हैं।[1] उसे एक असल "प्रत्यय-पत्र" तो मुहरबन्द लिफाफे में दिया जाता है और उसकी प्रतिलिपि खुली ही दी जाती है। अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर वह पहले वहाँ के विदेशविभाग को उक्त खुली प्रतिलिपि अपने पहुँचने की सूचना के रूप में भेज देता है। असल प्रत्यय-पत्र को वह उस सम्बन्धित अधिकारी को (राज्याधिपति या विदेशविभाग को) स्वयं देता है जिसके नाम उसे प्रत्ययित किया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि राजनयिक प्रतिनिधि कई राज्यों का प्रतिनिधित्व करता है और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही राजनयिक प्रतिनिधि अपने देश की ओर से एक से अधिक देशों में प्रतिनिधित्व करता है। जैसे, इंग्लैंड में भारतीय उच्चायुक्त भारत की ओर से आयरलैण्ड में भी प्रतिनिधित्व करता है।

उक्त प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत करते समय राजदूत या अमात्य राज्याधिपति को सम्बोधित करते हुए एक अभिभाषण (Address) करता है जिसका राज्याधिपति उत्तर देता है। प्रायः यह अभिभाषण लिखित होता है जिसकी एक प्रतिलिपि राज्याधिपति को पहले दे दी जाती है। किन्तु यह अभिभाषण और उसका उत्तर

१. राजदूतों और अमात्यों को यह 'प्रत्यय-पत्र' अपने राज्याधिपति (Head of the State) से प्राप्त होता है; कार्यदूत को यह प्रत्यय-पत्र उसके विदेश-विभाग से प्राप्त होता है। क्योंकि वह विदेश-विभाग से विदेश-विभाग को प्रत्ययित किया जाता है।

दोनों नितांत औपचारिक ही होते हैं और ऐसा शिष्टाचार के नाते किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह परम्परा है कि उक्त अभिभाषण तथा उसके उत्तर में किसी प्रकार के विवादास्पद विषय की चर्चा नहीं आने दी जाती और न ऐसा करना ही चाहिए, क्योंकि जब कि दो देश दूत-विनिमय के द्वारा पारस्परिक सामीप्य बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं उस समय ऐसे विषयों की चर्चा से वातावरण प्रारंभ से ही विषाक्त और संदेहपूर्ण हो जाता है। इसलिए उपर्युक्त अभिभाषण में विवादास्पद विषय का समावेश राजनयिक अशिष्टता होती है।

साधारणतया राजदूत का जो कार्य-क्षेत्र रहता है उसके बाहर यदि उसे कोई विशिष्ट कार्य सौंपा जाता है, जैसे, किसी विशेष संधि-सम्बन्धी संधिवार्ता करना, तो उसे इसके लिए विशेष रूप से अधिकार दिया जाता है। ऐसे अधिकार-दायक अभिलेख "पूर्णाधिकार" (Full Powers) कहलाते हैं। ये "पूर्णाधिकार" आवश्यकतानुसार सीमित या असीमित रहते हैं।

प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत करने और अभिभाषण-विषयक औपचारिकता समाप्त होने पर राजदूत अपने स्थान पर पूर्णतया मान्य हो जाता है। फिर राजनयिक शिष्टाचार के नाते, उसका एक कर्त्तव्य और पूरा करना रह जाता है। यह कर्त्तव्य है—परिग्राहक राज्य के मंत्रियों तथा वहाँ स्थित अन्य देशों के राजनयिक दूतों से भेंट करना। अपने प्रणिध्यावास के सलाहकारों और सचिवों की भेंट परिग्राहक राज्य (Receiving State) के विदेशविभागीय सचिव या राज्याधिपति से व्यक्तिगत रूप में कराने का कार्य भी उसे ही करना पड़ता है। नवीन नियुक्त राजदूतादि का स्वागत-समारोह किसी समय बड़े ठाट-बाट और धूम-धाम से तथा विभिन्न देशों में विभन्न प्रकार से मनाया जाता था, किन्तु अब उस रूप में नहीं मनाया जाता। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि दूत को परिग्रहण न करने का वैध अधिकार किसी शासन को तभी तक रहता है जब तक कि वह नियुक्त होनेवाले दूत को "अपरिग्राह्य" नहीं कह देता। इसलिए जिसे वह "परिग्राह्य" घोषित कर चुका है उसका स्वागत उसे करना ही चाहिए। किन्तु यदि कोई संदेशवाहक किसी सम्मेलन या परिषद में किसी देश का प्रतिनिधित्व करने जाय तो उसे उस देश के अधिपति से स्वागत का अधिकार प्राप्त नहीं होता जहाँ उक्त सम्मेलन या परिषद हो रही हो।

उक्त राजदूतादि की नियुक्ति उस समय से मानी जाती है जब कि उनके देश के शासन द्वारा उसे नियुक्ति-सूचक प्रत्यय-पत्र दिया जाता है। इसलिए इसके बाद से ही उसे वे समस्त विशेषाधिकार (privileges) प्राप्त हो जाते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि में मान्य हैं। ये विशेषाधिकार राजनयिक दूत के परिजन-वर्ग के सदस्यों को भी प्राप्त रहते हैं। इन विशेषाधिकारों की चर्चा इस पुस्तक में उचित स्थान पर की गयी है परन्तु यहाँ संक्षेप में इस परिजनवर्ग को स्पष्ट कर देना आवश्यक है।[1]

राजनयिक दूत का परिजन-वर्ग

किसी राजनयिक अभिकर्ता (agent) के स्थायी पद के लिए उसके साथ जिन कम-से-कम आवश्यक व्यक्तियों का समूह जाता है उसे उसका परिजनवर्ग कहते हैं जिसे चार वर्गों में बाँटा जाता है।

१—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य व्यक्ति वे हैं जिनकी नियुक्ति राजनयज्ञ को नियुक्त करनेवाला शासन स्वतः करता है और जिनके बल पर उसका समस्त राजनयिक कार्य-संचालन होता है। इस वर्ग में प्रणिध्यावास के समस्त सहचारी, सहकारी, सलाहकार, सचिव, डाक्टर, पुरोहित, दुभाषिये आदि सम्मिलित हैं।

२—राजनयिक हरकारे (couriers), जो प्रणिध्यावास से अपने देश के शासन को और उक्त शासन से प्रणिध्यावास को भेजे गये संदेशों को लाने ले जाने का कार्य करते हैं।

३—राजनयिक दूत का निजी परिवार, जिसमें उसकी पत्नी, बच्चे और उसके वे अन्य निकट-सम्बन्धी जो उसकी शरण में उसके साथ रहते हों, सम्मिलित हैं, और

४—उस दूत के निजी भृत्य, जैसे उसके घर का कामकाज करनेवाले नौकर-चाकर, बच्चों के परिचारक-परिचारिका तथा अध्यापक और उसका निजी सचिव (Private Secretary)।

१. राजदूत-नियुक्ति के सम्बन्ध में Satow की Guide to Diplomatic Practice के अध्याय १२, १३ और १४ भी देखे जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों आदि में प्रतिनिधित्व

सभी राजनयिक दूत अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए केवल किसी विदेशी राज्य को ही भेजे जाते हों ऐसी बात नहीं है। ऐसे भी अवसर आते हैं—जब कि कई राज्य किसी अन्तर्राष्ट्रीय सभा, सम्मेलन या परिषद में भी अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। इन सभा-सम्मेलनों में उनके विषय के महत्त्व के अनुरूप ही प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। कभी विदेश-मंत्री प्रतिनिधि बनकर जाते हैं तो कभी स्वतः प्रधान मंत्री या उस पद की बराबरीवाला अन्य पदाधिकारी, जैसे, 'विदेश मंत्रियों की बर्लिन कान्फ्रेंस' और 'राष्ट्रमंडल के प्रधान मंत्रियों का सम्मेलन।' कभी ऐसा भी होता है कि जिस देश में सम्मेलन होता है उस देश को प्रत्ययित राजनयिक प्रतिनिधि को ही उक्त सम्मेलन में अपने देश की ओर से उसका प्रतिनिधित्व करने का भार सौंप दिया जाता है। बीसवीं सदी के इस दूसरे चरण में तो, विशेषकर संयुक्त राष्ट्र-संघटन की विशिष्ट उप-संस्थाओं के अन्तर्गत, विशेष-विशेष विषयों पर सम्मेलन और परिषदें आये दिन होती ही रहती हैं। ऐसे सम्मेलनों आदि में सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ को ही अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा जाता है, जैसे, अभी कुछ दिनों पूर्व भारतवर्ष में 'विश्व वन सम्मेलन' हुआ था उसमें विभिन्न देशों के केवल वनविशेषज्ञ ही आये थे। इन सम्मेलनों में सभी देश अपने प्रतिनिधि भेजते हों सो बात नहीं है। प्रायः तो विषय और उनके महत्त्व के अनुसार ही देशों को आमंत्रित किया जाता है परन्तु जो देश आमंत्रित करता है उसकी इच्छा पर भी बहुत कुछ निर्भर रहता है, हालाँ कि उसे मानने को कोई बाध्य नहीं हो सकता और निमंत्रणों में अनौचित्य देखकर कोई देश चाहे तो सम्मेलन में भाग लेना अस्वीकार कर सकता है।

इन सभादिकों के निमंत्रण-पत्र बहुधा, परम्परानुसार, उसी देश के द्वारा भेजे जाते हैं जहाँ वे सम्मेलन होते हैं। इस नियम के अपवाद भी हो जाया करते हैं, जैसे, ऐल्जिरास-सम्मेलन स्पेन में हुआ किन्तु उसके लिए निमंत्रण मोरक्को के सुल्तान के नाम से प्रेषित किये गये थे।

एक प्रथा यह भी है कि जिस देश में सम्मेलन होता है उस देश का विदेशमंत्री या विषयानुसार उस देश का अन्य कोई सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि उक्त सम्मेलन का

सभापति चुना जाता है। किन्तु इसके विपरीत सन् १९४५ की ऐतिहासिक 'सैन-फ्रांसिस्को कान्फ्रेंस' में संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस और चीन के प्रमुख प्रतिनिधियों ने बारी-बारी से सभापति का पद ग्रहण किया था, जब कि सम्मेलन संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ था। परन्तु उपर्युक्त प्रथा केवल प्रथा ही ह, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार अनिवार्य नहीं है। कोरिया और हिन्द-चीन के सम्बन्ध में होनेवाले जेनेवा सम्मेलन में भी सभापतित्व के लिए यही सिद्धान्त अपनाया गया था।

यदि सम्मेलन किसी महत्त्वपूर्ण और जटिल प्रश्न पर विचार करने के हेतु बुलाया गया हो तो बहुधा ऐसा सम्मेलन कई समितियों में विभक्त कर दिया जाता है। इन समितियों में अपने-अपने विषय-क्षेत्र में खुलकर वाद-विवाद होता है और अन्त में वे अपना-अपना प्रतिवेदन वृहत् सम्मेलन को भेज देती हैं। इन समितियों में निर्णय सर्व-सम्मति से ही प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो अल्प मतवाले बहुमत के द्वारा पारित प्रस्ताव से बाध्य नहीं किये जा सकते। इन समितियों में पारित प्रस्तावों को एक अधिनियमक (ऐक्ट) के रूप में तैयार करके वृहत् सभा में भेजा जाता है। वृहत् सभा में जो अंतिम निर्णय ले लिया जाता है उसे 'चरमाधिनियमक' (Final or General Act) संधि, प्रसंविदा, घोषणा आदि आवश्यकतानुसार कहते हैं, परन्तु उसे मानने को समस्त प्रतिनिधि-देश बाध्य नहीं हो सकते; कम-से-कम अल्पमतवाले तो बाध्य नहीं किये जा सकते। जो उसे मान्यता देकर उससे अपने को बाध्य मानने को तत्पर होते हैं वे उस पर हस्ताक्षर करते हैं और अपनी मुहर लगाते हैं।

इस प्रकार से पूर्णता को प्राप्त अभिलेख को उसकी रक्षा के लिए उसी देश के विदेशविभाग को सौंप दिया जाता है जहाँ कि उक्त सम्मेलन हुआ हो। आज-कल इस प्रकार की संधि, प्रसंविदा आदि से कोई देश तभी बाध्य होता है जब कि वहाँ का शासन उसे अनुसमर्थन (ratify) कर देता है। जनतांत्रिक देशों में यह अनुसमर्थन वहाँ की संसद या लोकसभा या प्रतिनिधिसभा करती है। अनु-समर्थन तभी पूर्ण समझा जाता है जब कि वहाँ का राज्याधिपति उस पर हस्ताक्षर कर देता है। ये अनुसमर्थन भी उसी देश के विदेशविभाग को भेज दिये जाते हैं जहाँ कि उक्त प्रसंविदा आदि सुरक्षित रहते हैं।

इन सम्मेलनों का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए एक महासचिव (Secretary General) नियुक्त किया जाता है जो बहुधा उसी देश का होता है जहां सम्मेलन बुलाया जाता है। इस महासचिव के अन्तर्गत अन्य प्रतिनिधिमंडलों के सचिवगण कार्य करते हैं। विषयसूची तैयार करना, सम्मेलन के कार्य का सुचारु रूप से संचालन करना, आदि उनके कार्य रहते हैं।

राजनयिक प्रेषण की समाप्ति

यह समाप्ति निम्नलिखित कारणों से हो सकती है—

(१) **प्रत्याह्वान** (Recall)—किसी राजनयिक दूत का प्रत्याह्वान कई कारणों से हो सकता है, जैसे त्यागपत्र, स्थानान्तरण, प्रत्ययक और परिग्राहक देशों में विभिन्न कारणों से सम्बन्ध-विच्छेद। दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद नीति के विरोध में भारतीय शासन ने उससे राजनयिक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और अपने उच्चायुक्त का प्रत्याह्वान कर लिया। गोवा के प्रश्न को लेकर भारत ने पोर्तगाल से सम्बन्धविच्छेद कर लिया और अपने राजनयिक प्रतिनिधि का प्रत्याह्वान कर लिया। प्रत्याह्वान या तो प्रत्ययक राज्य स्वेच्छा से करता है अथवा परिग्राहक राज्य के कहने से करता है। परिग्राहक राज्य प्रायः उसी समय प्रत्याह्वान के लिए जोर देता है जब कि सम्बन्धित राजनयिक दूत ने उक्त राज्य की शान्ति, सत्ता अथवा सम्मान के विरुद्ध अथवा राजनयिक दृष्टि से भर्त्सनीय अन्य कोई कार्य किया हो। प्रत्याह्वान के लिए राजनयिक दूत को, उसके पदानुसार, भेजनेवाले राज्य के राज्याधिपति (Head of the State) या परराष्ट्रमंत्री के द्वारा एक प्रत्याह्वान-पत्र दिया जाता है जिसे वह अपने पदानुसार परिग्राहक राज्य के राज्याधिपति या परराष्ट्रमंत्री के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस पर उसे दे उसके पारपत्र एवं प्रत्याह्वान-पत्र की अभिस्वीकृति (Acknowledgement) दे देते हैं और इस तरह उसकी कार्यावधि समाप्त हो जाती है। प्रायः यह प्रत्याह्वान-पत्र वह स्वयं न प्रस्तुत करके उसके स्थान पर आनेवाला नया दूत ही प्रस्तुत करता है।

(२) (क) **पदोन्नति**—किसी राजनयिक दूत को, यदि उसके स्थान पर ही अपने पद से ऊँचे पद पर नियुक्त कर दिया जाय तो उनका कार्यकाल विगत

प्रकार के राजनयिक दूत के रूप में समाप्त हो जाता है। नये पद के लिए उसे नये प्रत्यय-पत्र की आवश्यकता पड़ेगी।

(ख) **पदच्युति**—राजनयिक दूत के अक्षम्य राजनयिक दुर्व्यवहार अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारण से भेजनेवाला राज्य उसे पदच्युत कर देता है। यदि दो देशों के बीच सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तो दूत अपने आप ही अपने उस स्थान से पदच्युत हो जाता है जहाँ कि वह नियुक्त था।

(३) **मृत्यु**—राजनयिक प्रतिनिधि की मृत्यु से स्वाभाविक रूप से ही उसके पद की निवृत्ति हो जाती है।

(४) **पारपत्र की माँग**—राजनयिक प्रतिनिधि परिग्राहक राज्य के दुर्व्यवहार के कारण अपने पद से त्यागपत्र देते हुए उक्त राज्य से पारपत्र माँग सकता है और यदि वह इस तरह अपना स्थान छोड़ दे तो भी उसकी कार्यावधि समाप्त हो जाती है। यद्यपि आज के तार-टेलीफोन के युग में बिना अपने शासन से परामर्श किये हुए कदाचित् ही कोई राजदूत ऐसा करेगा।

(५) **उद्देश्य-पूर्ति**—कई राजनयिक दूत किसी कार्यविशेष के लिए विदेश अथवा किसी सम्मेलन या परिषद में प्रतिनिधित्व करने भेजे जाते हैं। उनका कार्यकाल उक्त कार्यविशेष पूर्ण होते ही समाप्त हो जाता है।

(६) **प्रत्यय-पत्र का अन्त**—जिस राजनयिक प्रतिनिधि का प्रत्ययपत्र किसी अवधिविशेष के लिए रहता है उसका कार्यकाल उक्त अवधि की समाप्ति तक रहता है।

(७) **युद्धारंभ**—प्रेषक और परिग्राहक राज्यों में युद्ध छिड़ जाने से दोनों के राजनयिक दूत-मंडलों की निवृत्ति हो जाती है।

(८) (क) **सांविधानिक परिवर्तन**—किसी देश के परम सत्तावान् एक राजाधिपति की मृत्यु अथवा सिंहासन-त्याग से उसके द्वारा प्रेषित या परिगृहीत प्रतिनिधियों की कार्यावधि का अवसान हो जाता है। गणतंत्र राज्यों में राष्ट्रपति (यदि वह राज्याधिपति हो और राजनयिक दूतों का प्रेषण एवं परिग्रहण करता है तो) की मृत्यु, पदत्याग या कार्यावधि समाप्त होने पर भी उसके द्वारा प्रेषित या परिगृहीत दूतों आदि की कार्यावधि समाप्त हो जाती है।

(ख) **क्रांतिकारी परिवर्तन**—जब किसी देश में क्रांति, अराजकता या

विप्लव के फलस्वरूप शासन में आमूल परिवर्तन हो जाय, जैसे एकराजतंत्र के स्थान पर गणतंत्रात्मक शासन या सामन्तवादी शासन के स्थान पर साम्यवादी शासन की स्थापना हो जाय, तो उसके द्वारा भेजे गये और परिगृहीत दूतों के प्रत्यय-पत्र की उपयोगिता का अन्त हो जाता है।

उपर्युक्त (८) (क और ख) के अन्तर्गत दी गयी परिस्थितियों में राजनयिक दूत को नया प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है, अन्यथा उसे वैध रूप से राजनयिक प्रतिनिधि नहीं माना जायगा। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि उपर्युक्त ढंग से परिवर्तित हुए शासनों की मान्यता-प्राप्ति (recognition) में अधिक कठिनाई पड़ती है, क्योंकि बिना उसके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनकी कोई स्थिति नहीं रहती और जब तक यह मान्यता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक राजनयिक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होते। मान्यता भी दो प्रकार की होती है। "तथ्यमूलक" (de facto) और "विधि-मूलक" (de Jure) किन्तु यह बात अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र की है और इस पुस्तक के विषयक्षेत्र से बाहर है।

(९) राज्यविलोप (Extinction of State)–जब कभी दूत-प्रेषक या दूत-परिग्राहक राज्य का अन्त विलयन अथवा संयोजन (annexation) की क्रिया के द्वारा हो जाता है तो उसके द्वारा भेजे हुए या परिगृहीत राजनयिक दूत-मंडल की निवृत्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ सन् १९३८ में आस्ट्रिया का अन्त हो गया। पोलैण्ड का इतिहास भी ऐसा ही है। सन् १७९० में आस्ट्रिया, रूस और प्रशा ने आपस में पोलैण्ड को अंतिम रूप से बाँट लिया और इस प्रकार पोलैण्ड का अन्त हो गया।

१०

राजनयिक भाषा

राजनयिक भाषा के तीन अर्थ होते हैं। प्रथम, वह भाषा (अंग्रेजी, फ्रेन्च या लैटिन) जिसका प्रयोग राजनयज्ञगण वार्तालाप या पत्र-व्यवहार में करते हैं। द्वितीय, वे शब्द या वाक्यांश जो राजनयिक व्यवहार में परम्परागत विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं। तृतीय, न्यून-कथन अर्थात् ऐसे शब्दों का प्रयोग जो सर्वसाधारण को बहुत ही कोमल और शिष्ट लगें किन्तु जिनका राजनयिक परम्परानुसार अत्यंत कठोर अर्थ निकलता है।[1]

साधारण व्यक्ति 'राजनयिक भाषा' से 'छलपूर्ण भाषा' या 'रहस्यमयी भाषा' या 'असत्य भाषण' आदि अर्थ निकालते हैं। किन्तु उनका ध्यान भ्रमवशात् राजनय के उस दूषित प्रचलित अर्थ पर रहता है जिसकी चर्चा प्रथम अध्याय में की गयी है। वास्तव में उस अर्थ में उसे राजनयिक भाषा नहीं बल्कि कूटनीतिक भाषा कहना चाहिए।

क—अंग्रेजी, फ्रेंच या लैटिन[2]

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि किसी राष्ट्र या जाति की राजनीतिक सत्ता, संस्कृति और सभ्यता के महत्त्व की वृद्धि, प्रचार तथा प्रसार के साथ ही साथ उसकी भाषा का भी तदनुरूप विस्तार होता ही है और उस भाषा का स्थायित्व उसकी खुद की प्राण-शक्ति तथा उस राष्ट्र या जाति की अन्तःशक्ति पर निर्भर है। प्रायः समस्त एशिया की भाषाओं पर संस्कृत भाषा का प्रभाव इसका ज्वलंत उदाहरण है। यूरोप में अत्यंत प्राचीन काल से ग्रीक और लैटिन भाषाओं का व्यापक प्रभाव भी इस अन्तःशक्ति का द्योतक है।

रोमन संस्कृति का प्रभाव इतना व्यापक और दीर्घकालीन था कि पश्चिमी

1. 'Diplomacy'—H. Nicolson, p. 226
2. Also See Chap. 7 of Satow's 'A Guide to Diplomatic Practice'

यूरोप के समस्त सुसंचालित एवं संगठित राज्यों में शासन तथा धर्म के प्रमुख कार्यों में लैटिन भाषा का एकाधिपत्य शताब्दियों तक बना रहा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी अठारहवीं सदी तक लैटिन भाषा राजनयिक भाषा के रूप में परम सत्तावान् थी। शनैः शनैः जब यूरोप में फ्रांस के प्रभुत्व का उत्थान हुआ तो पेरिस यूरोप की शिष्ट संस्कृति का भी केन्द्र बन चला। परिणामतः फ्रेंच भाषा और संस्कृति का प्रभाव यूरोप की अन्य राजधानियों तक जा पहुँचा, यहाँ तक कि जिस तरह कुछ समय पूर्व तक कोई भारतीय अपनी मातृभाषा में वार्तालाप करते समय बीच में अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग करके गर्वित होता था (और पर्याप्त सीमा तक अब भी होता है) उसी प्रकार यूरोप का साधारण व्यक्ति भी फ्रेंच भाषा के दो-चार शब्दों को अपनी मातृभाषा में इधर-उधर उलटे सीधे ढंग से गूँथ देना प्रशंसनीय और मान-वर्द्धक मानने लगा। संभ्रान्त और कुलीन व्यक्ति के लिए तो फ्रेंच भाषा का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य माना जाता था। स्वभावतः धीरे-धीरे, और विरोध होने पर भी, फ्रेंच भाषा १८वीं सदी के मध्य तक राजनयिक भाषा के सिंहासन पर आरूढ़ हो गयी, हालाँकि उसे इस रूप में मान्यता बाद में ही चलकर प्राप्त हुई। फिर ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और शक्ति-संवर्द्धन तथा आंग्ल व्यापार के प्रसार के साथ-साथ आंग्ल भाषा का भी भाग्योदय हुआ और उसने एशिया के एक बड़े हिस्से पर अपनी चादर तान दी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटेन ने अपने प्रभुत्व की वृद्धि के साथ अपनी भाषा का अधिकार भी प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया और वह सफल भी हुआ। अब सोवियत रूस और लाल चीन दोनों विशाल और शक्तिशाली राष्ट्र हैं जिनकी सभ्यता एवं संस्कृति अपने-अपने ढंग से संसार को प्रभावित कर रही हैं। पृथ्वी का प्राचीनतम बालक भारत भी अपने सनातन ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर अपना प्रकाश छिटका रहा है। भारतवर्ष की पुरातन संस्कृति, व्यापार तथा भाषा का भी, विश्व, विशेषकर एशिया की संस्कृति आदि पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा है यह किसी से अब छिपा नहीं है। इन तीन महान् राष्ट्रों के नित्य प्रति बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के साथ-साथ उनकी राष्ट्रीय भाषाओं का प्रभाव-क्षेत्र भी निश्चित रूप से बढ़ रहा है और उनका भविष्य भी उज्ज्वल है।

परन्तु यूरोपीय साम्राज्यवाद और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियास्वरूप आज समस्त विश्व में राष्ट्रवाद की जो गहन भावना व्याप्त हो रही है उसके परिणामस्वरूप प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व दिलाना चाहता है और इसलिए विभिन्न-देशीय अधिकारियों के पारस्परिक वार्तालापों में अधिकाधिक दुभाषियों का उपयोग किया जाता है, भले ही वे अधिकारी एक-दूसरे की भाषाओं से अथवा अन्य तीसरी, दोनों को सुलभ, भाषा से भली भाँति परिचित हों। इसका सबसे ताजा उदाहरण उस समय का है जब कि चीन के प्रधानमंत्री श्री चाउ ऐन लाइ सर्वप्रथम भारतवर्ष आये थे। वे अंग्रेजी के पूरे ज्ञाता हैं और भारतीय प्रधानमंत्री पं० नेहरू भी उसके पंडित हैं। इस प्रकार दोनों की भेंट के समय अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम के रूप में अच्छी तरह सुगमता से किया जा सकता था। परन्तु चीनी प्रधानमंत्री ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने चीनी भाषा का प्रयोग किया। फलस्वरूप एक दुभाषिये की सहायता बरबस लेनी पड़ी।

इस मनोवृत्ति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग के लिए कोई एक सर्वमान्य राजनयिक भाषा नहीं बन पा रही है और इससे सभी समझदार व्यक्तियों को खेद होता है। फ्रेंच भाषा के समर्थक विद्वानों के मतानुसार फ्रेंच भाषा में वे सब गुण विद्यमान हैं जो एक राजनयिक भाषा में होने चाहिए। संक्षेप में, उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण तो यह है कि उसमें प्रत्येक बात को सुनिश्चित और सूक्ष्म रूप से व्यक्त करने की क्षमता है। कम-से-कम दीर्घकालीन परम्परागत प्रयोग के कारण राजनयिक प्रयोग के लिए अवश्यमेव उसमें यह क्षमता आ गयी मानी जा सकती है। श्री आर० बी० मावत भी फ्रेंच को उसकी विचाराभिव्यक्ति की क्षमता के कारण राजनयिक भाषा-क्षेत्र की एकमेव स्वामिनी बनाना चाहते हैं। उनका कथन है कि चूंकि राष्ट्रों के बीच कटुता, कलह और युद्ध आदि बढ़ने का कारण पारस्परिक गलतफ़हमी है इसलिए उनसे संसार को बचाने के लिए राजनयज्ञों को फ्रेंच भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए, जिससे भ्रम होने की संभावना कम-से-कम रहे। वैसे संयुक्त राष्ट्र-संघटन में अंग्रेज़ी, फ्रेंच, लैटिन, स्पेनिश और रूसी भाषाओं का प्रयोग होता है।

ख—न्यून कथन

राजनयिक क्षेत्र में जिन न्यून कथनों का प्रयोग किया जाता है उनकी सम्पूर्ण सूची तो बड़ी लम्बी होगी, इसलिए उदाहरण के रूप में कुछ ही यहाँ दिये जाते हैं—

१—"मेरी सरकार की दृष्टि में अमुक बात अत्यधिक चिन्ता का विषय है",—अर्थात् सम्बन्धित शासन उक्त विषय में कड़ा रुख अपनानेवाला है।

२—"शासन अमुक विषय के प्रति उदासीन नहीं रह सकता"—अर्थात् उसमें अवश्यमेव हस्तक्षेप करेगा।

३—"शासन को अपने वर्तमान रुख पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा,"—अर्थात् पारस्परिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध शत्रुता में परिणत होनेवाले हैं।

४—यदि कोई राजदूत यह कहे कि उसके देश की सरकार को अमुक विषय में "स्वतंत्र कार्यवाही करने का अधिकार है," तो उसका अर्थ होगा कि राजनयिक सम्बन्ध विच्छिन्न होनेवाला है अथवा दूसरे पक्ष की नीति को असफल करने के लिए समुचित कदम उठाया जानेवाला है।

५—शासन इतर पक्ष के अमुक कार्य को "अमैत्रीपूर्ण कार्य समझता है",—अर्थात् उस कार्य का परिणाम युद्ध-घोषणा हो सकता है।

६—यदि किसी संदेश के उत्तर की माँग, जिसमें कुछ निश्चित माँगें रखी गयी हों, किसी निश्चित समय, जैसे "१९ दिसम्बर के ६ बजे शाम के पूर्व" की जाय तो उसका अर्थ "अंतिम प्रतिज्ञा" अथवा "अंतिमेत्थम्" (Ultimatum) समझा जायगा, जिसके ठुकराये जाने का परिणाम बहुधा युद्ध-घोषणा ही होता है।

इस प्रकार के न्यून कथनों से निस्संदेह कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी शिष्टतापूर्ण और सौम्य वातावरण बना रहता है और साथ ही सर्वसाधारण में अनावश्यक उत्तेजना व्याप्त नहीं होने पाती। किन्तु इस जनतांत्रिक युग में यह गुण एक दोष का भी कार्य करता है क्योंकि वास्तविक संकटापन्न

स्थितियों में भी यदि उक्त प्रकार की भाषा का प्रयोग होता रहा तो उससे सर्वसाधारण इसी प्रवंचना में पड़ा रहेगा कि देश के समक्ष कोई संकट उपस्थित नहीं है और अन्य राष्ट्रों से स्वराष्ट्र के सम्बन्ध सदा की भाँति स्नेह-पूर्ण ही बने चले जा रहे हैं। साथ ही यह भी है कि ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग असावधानी से करने से कभी-कभी बड़े अनर्थ हो जाते हैं। श्री निकलसन ने ऐसे संभाव्य अनर्थ का एक बड़ा ही मजेदार उदाहरण दिया है। इंग्लैण्ड के एक महावाणिज्य-दूत ने परराष्ट्रविभाग को एक सूचना भेजी कि "मुझे बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि मेरे अधीनस्थ एक उपवाणिज्यदूत अपने स्वास्थ्य की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी करने के लिए डाक्टरगण उसे सलाह देते हैं", जब कि वास्तव में वह बेचारा उपवाणिज्य-दूत सन्निपातावस्था की अंतिम सीमा पर था।

किन्तु आजकल जब कि जनता अपनी सरकार की वैदेशिक नीति तथा उसके संचालन में रुचि लेती है तो यह भी आवश्यक हो जाता है कि राजनयिक भाषा में भी शब्दों का प्रयोग ऐसे अर्थ में ही हो जिसमें कि वे साधारणतया प्रयुक्त किये जाते हैं, ताकि साधारण व्यक्ति यह समझ सके कि उसके विदेशमंत्री या राजनयज्ञ जो कुछ वास्तव में कर रहे हैं वही कह भी रहे हैं। संक्षेप में किसी विदेशी सरकार के प्रति कड़ा रुख अपनाने या उससे कोई कटु बात कहने के लिए कठोर और कटु शब्द ही प्रयुक्त किये जायँ। ऐसी अशिष्ट भाषा का प्रयोग आजकल नित्य प्रति किया जाता है। छोटी-सी बात को भी अत्यधिक बढ़ाकर और गला फाड़-फाड़कर कहा जाता है, क्योंकि उसका वास्तविक उद्देश्य प्रचार ही अधिक रहता है। उदाहरणार्थ अब बार-बार किसी देश के कृत्य को अमैत्रीपूर्ण कृत्य कहने पर भी न तो युद्ध की घोषणा की जाती है और न ऐसा उद्देश्य ही रहता है। सोवियत रूस ने बगदाद पैक्ट के सदस्यों से विलग विलग यह बात कही कि उनका उक्त संधिसंगठन का सदस्य होना उसके विरुद्ध अमैत्रीपूर्ण कृत्य माना जायगा, किन्तु उसने युद्ध घोषित नहीं किया और न अभी उसकी इच्छा ऐसी है। इस प्रकार की राजनयिक भाषा का प्रयोग साम्यवादियों ने प्रारंभ किया जिसका अनुकरण असाम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भी मिलता है और ऐसे अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाता है। सारांश यह कि अब न्यून कथन की प्रथा को छोड़ा जा रहा है और अतिशयोक्ति-पूर्ण कथनों की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है किन्तु

यह मानना पड़ेगा कि यदि धीरे धीरे साधारण जनता भी समाचारपत्रों आदि के द्वारा उपर्युक्त प्रकार के न्यून कथनों के विशिष्ट अर्थों से परिचित करा दी जाय तो वह भाषा इस अशिष्ट और अतिशयोक्ति-पूर्ण भाषा से श्रेष्ठ ही रहेगी।

ग—विशिष्ट अर्थवाची शब्द

नीचे उन अंग्रेजी, फ़्रेंच या लैटिन शब्दों की संक्षिप्त सूची, उनके अर्थ तथा निकटतम हिन्दी पर्यायवाची शब्दों के साथ दी गयी है जो राजनयिक भाषा में विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त किये जाते हैं।

१—Accession (सहमिलन)—बहुधा कई अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में एक "सहमिलन धारा" जोड़ दी जाती है जिसके अनुसार कोई राष्ट्र, जिसकी ओर से तत्सम्बन्धी संधिवार्ता में कोई प्रतिनिधि उपस्थित नहीं था और इसलिए मूल संधि पर उसकी ओर से हस्ताक्षर नहीं हो पाये थे, बाद में उस संधि को अंगीकार कर सकता है। उदाहरणार्थ संयुक्त-राष्ट्र-संघटनीय शास (Charter) के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायक्षेत्र-विषयक प्रावधान को उक्त संघटन के सभी सदस्यों ने अंगीकार नहीं किया है किन्तु जो राज्य ठीक समझता है वह अपनी सुविधानुसार समय-समय पर उसे अंगीकार करता जाता है।

२—Accord (मतैक्य)—कम महत्त्व के विषयों पर बहुधा कोई संधि न करके उन्हें "मतैक्य" (Accord) के द्वारा निबटा लिया जाता है, जैसे लोक-स्वास्थ्य या प्रतिलिप्यधिकार-विषयक "मतैक्य"।

३—Acte final (चरमाधिनियम)—अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के अन्त में उसकी कार्यवाहियों का संक्षिप्त लेख, सम्मेलन की सम्मति तथा उन संधियों सहित, जिन पर हस्ताक्षर किये गये।

४—Ad Referendum[1] (अग्रे-विचार्य)—जब कोई राजनयिक प्रतिनिधि किसी संधिवार्ता के समय दूसरे पक्ष के प्रस्ताव को अपनी ओर से तो स्वीकार कर लेता है किन्तु अपनी सरकार को उस स्वीकृति से बाध्य नहीं करना चाहता, तो वह उसे "अग्रे-विचार्य" बताकर स्वीकार कर लेता है अर्थात् अंतिम स्वीकृति उसकी सरकार के हाथ में है।

1. A Guide to Diplomatic Practice—Chap. X. § 175. by Satow.

५—Agrc'mcnt[1] (समनुमोदन)—जब कोई शासन किसी राजदूत या अमात्य की नियुक्ति विदेश में करता है तो वह उस विदेशी शासन की राय का पता उस व्यक्ति के सम्बन्ध में अनधिकृत रूप से लगा लेता है। यदि उक्त विदेशी शासन को उस व्यक्ति की नियुक्ति के विषय में कोई आपत्ति नहीं होती तो सम्बन्धित व्यक्ति "समनुमोदन-प्राप्त" समझा जाता है।

६—Asylum (राजप्रश्रय)—किसी देश के राजनीतिक अपराधियों या शरणार्थियों के अन्य देश में या विदेशी प्रणिव्यावास में शरण लेने को "राज-प्रश्रय" कहते हैं। इस प्रकार का आश्रय दे दिये जाने पर उन्हें उनके देश वापिस नहीं भेजा जा सकता। ईरान में इसी से मिलता-जुलता अधिकार होता है जिसे "वस्त" (Bast) कहते हैं। इसके द्वारा स्थानीय व्यक्ति अपने शासन आदि के प्रति अपना कोई अधिकार या विरोध प्रदर्शित करने के लिए विदेशी राज-दूतावास में शरण लेते हैं।[2]

७—Attache' (सहचारी)—आजकल कार्याधिक्य के कारण तथा सुविधा की दृष्टि से राजदूत के साथ विशिष्ट विषयों पर उनकी सलाह तथा सहायता के लिए तद्विषयक विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है और इन्हें तद्-विषयक सहचारी कहा जाता है। इस विषय की कुछ चर्चा पहले आ चुकी है।

८—Bag (दूतावास प्रेष)—राजनयज्ञ जो लिखित प्रतिवेदन आदि स्वदेश भेजते और वहाँ से प्राप्त करते हैं उन्हें विशेष हरकारे डाक के थैले में लाते ले जाते हैं। इस हरकारे तथा डाक-थैले, दोनों को अनतिक्रमणीयता का विशेषाधिकार प्राप्त है। जिस दिन वह थैला लाया ले जाया जाता है उसे प्रणि-व्यावास में 'डाक दिवस' (Bag day) कहते हैं।

९—Belligerent Rights (युध्यमान-अधिकार)—ये अधिकार अन्त-र्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित हैं और कई हैं इसलिए इन्हें यहाँ गिनाने की आव-श्यकता नहीं है। इन सबमें अपने शत्रु के 'समवरोध' (Blockade) का अधि-कार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

1. Ibid. Chapter XIII, Para § 226-227.
2. Ibid. para § 401-402.

१०—Capitulations (समर्पण-संधियाँ)—ये वे संधियाँ हैं जिनमें समर्पण की शर्तें रहती हैं। ईसाई राज्यों ने इन्हीं संधियों के द्वारा गैर-ईसाई राज्यों से बलपूर्वक अपने देश के उन ईसाइयों के लिए विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त कर ली थीं जो उन गैर-ईसाई राज्यों में रहते थे।

११—Casus Belli (युद्ध-कारण)—किसी राज्य का अन्य राज्य के विरुद्ध ऐसा कार्य जिससे अन्य राज्य को युद्ध घोषित करने का न्याय्य अधिकार प्राप्त हो जाय। पामर्सटन के अनुसार "ऐसा मामला जिसके आधार पर युद्ध घोषित करना उचित हो।"[1]

१२—Casus Foederis (संधिगत कारण)—ऐसा कृत्य या घटना जिससे किसी संमैत्री (Alliance) के एक पक्ष को उसके दूसरे पक्ष से सहायता प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

१३—Chancelleries (महामात्रालय) और Chancery—प्रारम्भ में चान्सलर (महामात्र) के सचिवालय को चान्सलरी (महामात्रालय) कहते थे। अब उसका अर्थ होता है 'वे मंत्री और कर्मचारी जो वैदेशिक नीति को नियंत्रित करते हों या तत्सम्बन्धी सलाह देते हों।' चांसलरी शब्द 'विदेश विभाग' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। 'चांसरी' से अभिप्राय किसी राजनयिक प्रतिनिधि के कार्यालय से है जो उसके प्रथम, द्वितीय और तृतीय सचिवों और अन्य सहायक लिपिकों का द्योतक है।"

१४—Charge' da'ffaires (कार्यदूत)—परिभाषा पिछले पृष्ठों में दी जा चुकी है। अन्तःकालीन कार्यभार सम्हालने के लिए 'अन्तरिम-कालीन कार्यदूत' (Charge da'ffaires ad interim) की नियुक्ति होती है जिसके लिए समनुमोदन की आवश्यकता नहीं होती। बहुधा कोई राज्य अन्य राज्य से अपना असंतोष या रोष प्रकट करने के लिए अन्तरिम-कालीन कार्यदूत को दीर्घ काल तक नियुक्त रहने देता है।

१५—Compromis D' Arbitrage or Compromis—(विवाचन-संविद्)—जब दो राज्य अपने किसी झगड़े के प्रश्न को विवाचनार्थ दे देते

1. A Guide to Diplomatic Practice, Satow [illegible]

हैं तो विवाचकों की प्रक्रिया का जो नियमपत्र तैयार किया जाता है उसे 'विवाचन-संवित्' कहते हैं।

१६—Concordat (अविप्रतिपत्ति संधि)—जब पोप किसी राज्य के अधिपति से कोई संधि करता है तो उसे अविप्रतिपत्ति संधि कहते हैं।

१७—Conference और Congress (सम्मेलन और सभा)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि में इन दो शब्दों में कोई भेद नहीं है।[1] दोनों शब्दों का प्रयोग अभेद रूप से किया जाता है किन्तु 'कांग्रेस' अर्थात् 'सभा' शब्द अधिक व्यापकता का द्योतक है जब कि 'कान्फ्रेंस' अर्थात् 'सम्मेलन' उतना व्यापक अर्थ सूचित नहीं करता।

१८—Convention (अभिसमय)—यह एक प्रकार की कम महत्त्वपूर्ण संधि है जो राज्यों के अधिपतियों के मध्य नहीं वरन् शासनों के मध्य होती है।

१९—Corps Diplomatique (राजनयिक निकाय)—किसी राजधानी में स्थित विभिन्न देशों के प्रणिध्यावासों या राजदूतावासों के राजनयिक कर्मचारियों के समस्त समूह को 'राजनयिक-निकाय' कहते हैं। सबसे वरिष्ठ (Senior) राजदूत या अमात्य इस निकाय का मुखिया होता है और उसे 'दूतवरिष्ठ' (Doyen) कहते हैं।

२०—En Clair ('शब्दों में' अथवा 'स्पष्ट भाषा में')—यदि कोई राजनयिक तार सांकेतिक भाषा में नहीं वरन् साधारण भाषा में लिखकर भेजा जाता है तो 'स्पष्ट भाषा में' भेजा हुआ कहा जाता है।

२१—Exequatur (कार्यानुमति)—वाणिज्यदूत को जब किसी देश में नियुक्त किया जाता है तो वहाँ के सम्बन्धित अधिकारी द्वारा उसे जो स्वीकृति दी जाती है उसे 'कार्यानुमति' कहते हैं।

२२—Extradition (प्रत्यर्पण)—कई राज्य आपस में ऐसी संधियाँ कर लेते हैं जिनके अनुसार यदि एक राज्य का अपराधी दूसरे राज्य में चला जाय तो उस दूसरे राज्य को उसे पहले राज्य को लौटा देना चाहिए। इस तरह की संधियाँ प्रत्यर्पण-संधियाँ कहलाती हैं। किन्तु राजनीतिक अपराधियों पर ये लागू नहीं होतीं।

1. Ibid, para § 521.

२३—Full Powers[1] (पूर्ण-शक्ति या पूर्णाधिकार)—वह विशिष्ट अधिकार है जो ऐसे राजनयिक प्रतिनिधि अथवा अन्य अभिकर्ता को दिया जाता है जिसे किसी संधि या अभिसमय-विशेष पर उसकी सरकार की ओर से हस्ताक्षर करने का कार्य सौंपा गया हो, अथवा उस हेतु किसी सम्मेलन या सभा में प्रतिनिधित्व करने भेजा गया हो। वह उसे उसके राज्याधिपति या शासन के द्वारा दिया जाता है। उसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है।

२४—Good Offices (सुसम्बन्ध-प्रयोग)—दो विरोधी राज्यों के बीच समझौता कराने के लिए जब तीसरा शासन दोनों पक्षों से वर्तमान अपने अच्छे सम्बन्धों से लाभ उठाकर दोनों के बीच संदेशवाहक का कार्य करता है तो उसके इस कार्य को 'सुसम्बन्ध-प्रयोग' कहते हैं। यह 'मध्यस्थता' से भिन्न है, क्योंकि मध्यस्थता में मध्यस्थ शासन या व्यक्ति को स्वतः संधिवार्ता में भाग लेना पड़ता है जब कि सुसम्बन्ध-प्रयोग में ऐसा नहीं किया जाता।

२५—Laissez Passer (निर्बाध गमन)—राजकर्मचारी जब राजकीय कार्य से किसी देश को जाते हैं तो उक्त देश के राजदूतावास से उनकी सुविधा के लिए उन्हें उक्त-देशीय चुंगी-अधिकारियों के नाम एक सिफारिशी पत्र इसलिए दिया जाता है ताकि सीमा-प्रवेश के समय उनकी तलाशी न ली जाय। इसे 'निर्बाध गमन' कहते हैं और तत्सम्बन्धी पत्र को निर्बाध-गमन-पत्र कहते हैं।

२६—Lettre de Provision (नियुक्ति पत्र)—वाणिज्य दूतों की नियुक्ति करते समय जो अधिकार-पत्र उन्हें दिया जाता है उसे 'नियुक्ति-पत्र' कहते हैं।

२७—Notes (टिप्पण)—राजनयिक दूत के द्वारा किसी शासन को लिखे गये औपचारिक संदेश को 'टिप्पण' कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—

(अ)—सामूहिक टिप्पण (Collective Note)—किसी विषय पर विभिन्न राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों द्वारा संयुक्त रूप से हस्ताक्षरित टिप्पण। अपने हस्ताक्षर प्रत्येक राजदूत उक्त टिप्पण की पृथक् प्रतिलिपि पर करता है और सभी एक साथ मिलकर इस प्रकार की प्रतिलिपियाँ सम्बन्धित शासन के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

1. Ibid. page 85, para § 185 (Chap. VIII)

(आ)—एकसम टिप्पण (Identic Note)—इसमें टिप्पणों की अलग-अलग प्रतिलिपियों में सारांश एक-सा होगा किन्तु समस्त टिप्पणों का एक-सा होना आवश्यक नहीं। वे पृथक्-पृथक् समय पर भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(स) मौखिक टिप्पण (Note Verbale)—इस टिप्पण पर उपर्युक्त हस्ताक्षर नहीं किये जाते किन्तु इसके अन्त में प्रचलित सौजन्य अवश्य व्यक्त किया जाता है।

२८—Proces Verbal (सूक्ष्म लेख)—किसी सम्मेलन के सूक्ष्म लेख (Minutes) अर्थात् कार्यवृत्त के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता है।

२९—Protocol (मूलारूप या विदेशाधिकरण)—प्रारम्भ में यह सिर्फ किसी समझौते का रिकार्ड मात्र था और इसलिए संधि या अभिसमय से कम औपचारिक था। किन्तु अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाएँ, जैसे 'जेनेवा प्रोटोकोल' इसी रूप में रची गयी हैं।

३०—Raison D'E'tat (राज्य-कारण)—वह राजनयिक और राजनीतिक सिद्धांत जिसके अनुसार राज्य का महत्त्व व्यक्तिगत नैतिकता से भी अधिक है, इन शब्दों से व्यक्त किया जाता है।

३१—Rapporteur (प्रतिवेदक)—किसी सम्मेलन की समितियाँ या उपसमितियाँ अपने जिस एक प्रतिनिधि को मूल सम्मेलन में उनका प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए चुनती हैं उसे प्रतिवेदक कहते हैं और वही उनका प्रतिनिधित्व मूल सम्मेलन में करता है।

३२—Safe-Conduct (क्षेम-गमन)—किसी व्यक्ति को उसके देश के शत्रु-राज्य के राज्यक्षेत्र में से बिना किसी रोक-टोक के निकल जाने देने को 'क्षेम-गमन' कहते हैं।

३३—Sanctions (अनुशास्ति)—किसी प्रसंविदा या विधि को भंग करने के लिए जो दंड दिया जाता है उसे 'अनुशास्ति' कहते हैं।

३४—Status Quo[1] (पूर्व स्थिति) और Status Quo Ante Bellum (युद्ध-पूर्वस्थिति)।

1. Ibid, Chap X, para § 174

११

हमारा विदेश-विभाग[1]

साधारण विवरण

हमारे विदेश-मंत्रालय के प्रशासकीय नियंत्रण में एक सचिवालय है तथा अनेकों राजनयिक एवं वाणिज्य-दूतीय कार्यालय हैं, जिनका स्वरूप ऐसा है कि उन्हें उपकार्यालयों या संलग्न कार्यालयों की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इन कार्यालयों का कर्मचारिवृन्द (Staff) तथा मुख्यालय (Head-quarters) का कर्मचारिवृन्द अधिकांशतः अन्तर्निमेय है। किन्तु विदेश-स्थित भारतीय प्रेषणों के कर्मचारि-वृन्द को 'केन्द्रीय सचिवालय सेवा संवर्ग' (Central Secretariat Service Cadre) में सम्मिलित नहीं किया गया है।

भारतीय विदेशमंत्रालय के प्रशासनांतर्गत निम्नलिखित उप-कार्यालय भी हैं—

१—'उत्प्रवास नियंत्रक' (मद्रास) तथा 'उत्प्रवासियों के रक्षक' (मद्रास, वम्बई, धांशकोडी, कलकत्ता, तूतीकोरन, नागापट्टम)।

२—"केन्द्रीय प्रत्यादान कार्यालय'—नयी दिल्ली।

३—विस्थापित व्यक्तियों की पूछताछ तथा खोज सेवा—नयी दिल्ली।

४—उत्तर-पूर्वी सीमांतीय अधिकरण।

५—'आसाम-राईफल्स' के महानिरीक्षक का कार्यालय।

'पत्तन-हज-समिति' वम्वई तथा 'विशेष हज-समिति' कलकत्ता भी विदेश-मंत्रालय के प्रशासकीय नियंत्रण में है।

१ इस अध्याय के विषय को भारतीय नागरिकों की जानकारी के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण समझकर ही चुना गया है और वह सबका-सब विदेश-मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'प्रतिवेदन' (१९५४-५५) तथा 'विदेश-मंत्रालय का विवरणात्मक अनुसंधान लेख' १ अप्रैल सन् ११५४-५५ पर आधारित है।

विदेशमंत्रालय के प्रकार्य

हमारे विदेशमंत्रालय के परिनियत प्रकार्य (Statutory functions) निम्नलिखित मुख्य शीर्षकों में विभक्त किये जा सकते हैं—

१—वैदेशिक सम्बन्ध। २—पारपत्र (Passport) तथा दृष्टांक (Visas) ३—वनजाति क्षेत्र (Tribal Arcas) ४—साधारण, आनुषंगिक तथा प्रकीर्ण।

विदेशमंत्रालय का गठन

१—मुख्यालय—हमारे विदेशमंत्रालय के ६० अनुभाग हैं जिनमें से १९ तो प्रशासकीय अनुभाग हैं और ४१ क्षेत्रीय एवं प्राविधिक अनुभाग हैं। ये अनुभाग निम्न लिखित १० विभागों के अन्तर्गत आते हैं।

१—अमेरिकन विभाग—उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के देश।

२—पश्चिमी विभाग—संयुक्त राष्ट्र-संघटन और यूरोप (यूनाइटेड किंगडम को छोड़कर)

३—पूर्वी विभाग—चीन, जापान, कोरिया, नेपाल, सिक्कम, भूटान तथा उत्तर-पूर्वी सीमांतदेशीय अभिकरण।

४—दक्षिणी विभाग—पश्चिमी एशिया (अर्थात् मध्यपूर्व) और दक्षिण-पूर्वी एशिया।

५—अफ्रीकन विभाग—अफ्रीका, यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) तथा उपनिवेश और उत्प्रवास।

६—पाकिस्तान विभाग।

७—विदेशाधिकरण विभाग—विदेशाधिकरण, वाणिज्य-दूतीय कार्य, पारपत्र एवं दृष्टांक तथा अपहृत व्यक्ति।

८—प्रशासकीय विभाग—मुख्यालय तथा विदेशस्थित भारतीय प्रेषणों का प्रशासन।

अधिकारी भी सम्मिलित हैं; 'केन्द्रीय गूढ लेख विभाग' का एक प्रभारी अधिकारी; २४ अधीन सचिव; विशेष कर्तव्यभार सम्बन्धी ४ अधिकारी; उप-सचिव की श्रेणी का एक मुख्य पार-पत्र अधिकारी; १० उपसचिव; ८ सह-सचिव; दो सचिव तथा एक महासचिव।

चार क्षेत्रीय विभाग तथा प्रशासन विभाग सह-सचिवों के उत्तरदायित्व में हैं जिन्हें संचालक कहा जाता है; विदेशाधिकरण विभाग एक सहसचिव के अधिकार में हैं; दो क्षेत्रीय विभाग उपसचिवों के अधीन हैं जिन्हें संचालक कहते हैं; वैदेशिक प्रकाशन-विभाग एक उपसचिव के तथा ऐतिहासिक विभाग एक संचालक के, जो विशेषज्ञ है, उत्तरदायित्व में है। इस विशेषज्ञ संचालक पर अन्वेषण एवं गुप्तवार्ता अनुभाग तथा पुस्तकालय का भी प्रभार रहता है। दो उपसचिव विदेश-सेवा निरीक्षक नियुक्त किये गये हैं।

अमेरिकन, पश्चिमी तथा पूर्वी विभागों और दक्षिणी विभाग के पश्चिम-एशियाई देशों के कार्य को सम्हालने एवं निपटाने की जिम्मेदारी विदेश सचिव की रहती है। साथ ही विदेशाधिकरण विभाग के प्रशासकीय एवं प्रतिनिधित्व-विषयक कार्य का प्रभार भी उसी पर रहता है।

पाकिस्तान विभाग, अफ्रीकन विभाग, कनाडा के अलावा अन्य राष्ट्रमंडलीय देशों तथा दक्षिणी विभाग के दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के कार्य को राष्ट्रमंडलीय सचिव सम्हालता है।

विदेश सचिव तथा राष्ट्रमंडलीय सचिव दोनों मिलकर वैदेशिक प्रकाशन तथा ऐतिहासिक विभागों के कार्य का प्रभार भी वहन करते हैं।

महासचिव पूरे विदेशमंत्रालय के कार्य के समन्वय तथा पर्यवेक्षण के लिए उत्तरदायी रहता है।

२—गठन एवं प्रणाली अनुभाग—प्रशासन को सबल बनाने के लिए सन् १९५४-५५ में एक 'गठन एवं प्रणाली अनुभाग' (Organization & Methods Section) की स्थापना की गयी है जिसका कार्य विभिन्न अनुभागों की कार्यप्रणालियों की जाँच करना तथा गठनविषयक समस्याओं का अध्ययन करके प्रक्रिया में सुधार करने के सुझाव देना है।

३—भारतीय विदेशसेवा (Indian Foreign Service) इस सेवा के

कर्मचारिवृन्द की वर्तमान स्थायी संख्या १८४ है जिसमें से १४८ स्थानों पर भारतीय विदेश सेवा के अधिकारियों को तथा शेष पर अन्य अधिकारियों एवं उपाधिकारियों की नियुक्ति की जाती है।

४–निरीक्षण—भारतीय वैदेशिक प्रेषणों का कार्य अधिक क्षमता से तथा कम खर्च में चले इसके लिए दो सहसचिवों को निरीक्षक नियुक्त किया गया है जिनके जिम्मे निश्चित समय पर निरीक्षण करने का कार्य रहता है।

५—वाणिज्य-दूतीय विभाग—इसके कार्य हैं—भारतीय विदेश सेवा विषयक अनुदेशों का संकलन तथा पुनरावृत्ति करना; वाणिज्य-दूतीय शुल्क को वसूल करना; सभी वाणिज्य-दूतीय मामले, जैसे देश प्रत्यावर्तन, कष्ट निवारणार्थ द्रव्य देना तथा वसूल करना, यूरोप, दक्षिण-पूर्वी एशिया, अरब देशों और टर्की में रहनेवाले भारतीयों के प्रत्यर्पण, उद्विवासन तथा उनके कल्याण एवं ठौर-ठिकाने के बारे में पूछ-ताछ सम्बन्धी कार्य; बर्मा, मलाया आदि से निष्क्रांत व्यक्तियों की आर्थिक सहायता विषयक योजना से सम्बन्ध रखनेवाला अवशिष्ट कार्य; बर्मा, मलाया आदि से भारत आये हुए शरणार्थी अनाथों के भरण-पोषण की दीर्घकालीन योजना विषयक कार्य; विदेश-स्थित भारतीय नागरिकों के विवाह सम्पन्न कराने के लिए विवाहाधिकारियों की नियुक्ति, 'विशेष विवाह अधिनियम' सन् १९५४ के अनुसार करना; विदेश-स्थित भारतीयों के जन्म मरण से संव्यवहार करना; ऐसे भारतीयों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति को उनके भारत-स्थित वैध उत्तराधिकारियों को दिलाना; उनके द्वारा विदेशों में प्रयुक्त किये जानेवाले न्यायिक अभिलेखों को वैध करना; विदेश-स्थित भारतीय नागरिकों द्वारा भारत-स्थित अपने आश्रितों के लिए द्रव्य भेजे जाने के कार्य में सहायता पहुँचाना आदि-आदि।

६—वैदेशिक प्रकाशन—सन् १९५३–५४ में २९ देशों में भारतीय प्रकाशन-अवस्थानों (publicity-posts) की संख्या ३० थी, सन् १९५४-५५ में २९ देशों में ३५ प्रकाशन-अवस्थान थे। इन प्रकाशन-अवस्थानों को भारत सरकार के विदेश विभाग तथा अन्य विभागों से भी समाचार, लेख, पुस्तकें, चलचित्र आदि प्रकाशनसम्बन्धी सामग्री नियमित रूप से भेजी जाती है। चल-पुस्तकालय तथा चल-सिनेमावाहन भी कई जगह दिये गये हैं।

अधिकारी भी सम्मिलित हैं; 'केन्द्रीय गूढ लेख विभाग' का एक प्रभारी अधिकारी; २४ अधीन सचिव; विशेष कर्तव्यभार सम्बन्धी ४ अधिकारी; उप-सचिव की श्रेणी का एक मुख्य पार-पत्र अधिकारी; १० उपसचिव; ८ सह-सचिव; दो सचिव तथा एक महासचिव।

चार क्षेत्रीय विभाग तथा प्रशासन विभाग सह-सचिवों के उत्तरदायित्व में हैं जिन्हें संचालक कहा जाता है; विदेशाधिकरण विभाग एक सहसचिव के अधिकार में है; दो क्षेत्रीय विभाग उपसचिवों के अधीन हैं जिन्हें संचालक कहते हैं; वैदेशिक प्रकाशन-विभाग एक उपसचिव के तथा ऐतिहासिक विभाग एक संचालक के, जो विशेषज्ञ है, उत्तरदायित्व में हैं। इस विशेषज्ञ संचालक पर अन्वेषण एवं गुप्तवार्ता अनुभाग तथा पुस्तकालय का भी प्रभार रहता है। दो उपसचिव विदेश-सेवा निरीक्षक नियुक्त किये गये हैं।

अमेरिकन, पश्चिमी तथा पूर्वी विभागों और दक्षिणी विभाग के पश्चिम-एशियाई देशों के कार्य को सम्हालने एवं निपटाने की जिम्मेदारी विदेश सचिव की रहती है। साथ ही विदेशाधिकरण विभाग के प्रशासकीय एवं प्रतिनिधित्व-विषयक कार्य का प्रभार भी उसी पर रहता है।

पाकिस्तान विभाग, अफ्रीकन विभाग, कनाडा के अलावा अन्य राष्ट्रमंडलीय देशों तथा दक्षिणी विभाग के दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के कार्य को राष्ट्रमंडलीय सचिव सम्हालता है।

विदेश सचिव तथा राष्ट्रमंडलीय सचिव दोनों मिलकर वैदेशिक प्रकाशन तथा ऐतिहासिक विभागों के कार्य का प्रभार भी वहन करते हैं।

महासचिव पूरे विदेशमंत्रालय के कार्य के समन्वय तथा पर्यवेक्षण के लिए उत्तरदायी रहता है।

२—गठन एवं प्रणाली अनुभाग—प्रशासन को सबल बनाने के लिए सन् १९५४-५५ में एक 'गठन एवं प्रणाली अनुभाग' (Organization & Methods Section) की स्थापना की गयी है जिसका कार्य विभिन्न अनुभागों की कार्यप्रणालियों की जाँच करना तथा गठनविषयक समस्याओं का अध्ययन करके प्रक्रिया में सुधार करने के सुझाव देना है।

३—भारतीय विदेशसेवा (Indian Foreign Service) इस सेवा के

कर्मचारिवृन्द की वर्तमान स्थायी संख्या १८४ है जिसमें से १४८ स्थानों पर भारतीय विदेश सेवा के अधिकारियों की तथा शेष पर अन्य अधिकारियों एवं उपाधिकारियों की नियुक्ति की जाती है।

४–निरीक्षण—भारतीय वैदेशिक प्रेषणों का कार्य अधिक क्षमता से तथा कम खर्च में चले इसके लिए दो सहसचिवों को निरीक्षक नियुक्त किया गया है जिनके जिम्मे निश्चित समय पर निरीक्षण करने का कार्य रहता है।

५—वाणिज्य-दूतीय विभाग—इसके कार्य हैं—भारतीय विदेश सेवा विषयक अनुदेशों का संकलन तथा पुनरावृत्ति करना; वाणिज्य-दूतीय शुल्क को वसूल करना; सभी वाणिज्य-दूतीय मामले, जैसे देश प्रत्यावर्तन, कष्ट निवारणार्थ द्रव्य देना तथा वसूल करना, यूरोप, दक्षिण-पूर्वी एशिया, अरब देशों और टर्की में रहनेवाले भारतीयों के प्रत्यर्पण, उद्विवासन तथा उनके कल्याण एवं ठौर-ठिकाने के बारे में पूछ-ताछ सम्बन्धी कार्य; बर्मा, मलाया आदि से निष्क्रांत व्यक्तियों की आर्थिक सहायता विषयक योजना से सम्बन्ध रखनेवाला अवशिष्ट कार्य; बर्मा, मलाया आदि से भारत आये हुए शरणार्थी अनाथों के भरण-पोषण की दीर्घकालीन योजना विषयक कार्य; विदेश-स्थित भारतीय नागरिकों के विवाह सम्पन्न कराने के लिए विवाहाधिकारियों की नियुक्ति, 'विशेष विवाह अधिनियम' सन् १९५४ के अनुसार करना; विदेश-स्थित भारतीयों के जन्म मरण से संव्यवहार करना; ऐसे भारतीयों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति को उनके भारत-स्थित वैध उत्तराधिकारियों को दिलाना; उनके द्वारा विदेशों में प्रयुक्त किये जानेवाले न्यायिक अभिलेखों को वैध करना; विदेश-स्थित भारतीय नागरिकों द्वारा भारत-स्थित अपने आश्रितों के लिए द्रव्य भेजे जाने के कार्य में सहायता पहुँचाना आदि-आदि।

६—वैदेशिक प्रकाशन—सन् १९५३–५४ में २६ देशों में भारतीय प्रकाशन-अवस्थानों (publicity-posts) की संख्या ३० थी, सन् १९५४-५५ में २९ देशों में ३५ प्रकाशन-अवस्थान थे। इन प्रकाशन-अवस्थानों को भारत सरकार के विदेश विभाग तथा अन्य विभागों से भी समाचार, लेख, पुस्तकें, चल-चित्र आदि प्रकाशनसम्बन्धी सामग्री नियमित रूप से भेजी जाती हैं। चल-पुस्तकालय तथा चल-सिनेमावाहन भी कई जगह दिये गये हैं।

७—भारत में राजनयिक तथा वाणिज्य-दूतीय प्रेषण—भारत में ७४ देशों का राजनयिक प्रतिनिधित्व है तथा ८९ वाणिज्य-दूतीय अवस्थान हैं। सन् १९५४-५५ में दो नये राजनयिक प्रेषणों (मिशन) की स्थापना हुई तथा एक प्रणिध्यावास ने राजदूतावास का रूप ग्रहण किया। इसी वर्ष भारत में ८ नये वाणिज्यदूतीय अवस्थानों की स्थापना हुई, जिनमें से तीन बम्बई में, दो कलकत्ता में, दो दिल्ली में तथा एक मद्रास में खोले गये।

इस सम्बन्ध की विस्तृत सूची परिशिष्ट 'क' तथा परिशिष्ट 'ख' में दी गयी है।

भारतीय विदेश सेवा के लिए नियुक्तियाँ

भारतीय विदेश सेवा के लिए नियुक्तियाँ करने के लिए 'संघीय जन-सेवा आयोग' (यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन) प्रति वर्ष देश भर में निश्चित केन्द्रों में परीक्षा लेता है। इस परीक्षा में बैठने के लिए अनेक नियम हैं जिन्हें आयोग-सचिव के नयी दिल्ली-स्थित कार्यालय को लिखकर मँगाया जा सकता है। उम्र, योग्यता, परीक्षा के विषय आदि सम्बन्धी अन्य सब नियम उसी नियमावली में मिल मिलते हैं।

लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण होनेवालों को आयोग के सम्मुख मौखिक परीक्षा के लिए उपस्थित होना पड़ता है। दोनों परीक्षाओं के क्रमांकों को मिलाकर जो परीक्षार्थी सफल परीक्षार्थियों की क्रमानुसार नामावली में निश्चित स्थान प्राप्त करता है उसे फिर स्वास्थ्यपरीक्षा के लिए एक स्वास्थ्यपरीक्षा-मंडल के समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। इस परीक्षा में भी उत्तीर्ण होने पर उसे कम-से-कम तीन वर्ष का परिवीक्षा (प्रोबेशन) काल व्यतीत करना पड़ता है। इस काल में वह प्रशिक्षण प्राप्त करता है। प्रशिक्षण काल का कार्यक्रम निम्नलिखित प्रकार का रहता है—

१—लगभग छः मास का समय 'भारतीय प्रशासकीय सेवा प्रशिक्षण शिक्षालय' (Indian Administrative Service Training School), दिल्ली में भारत के प्रशासकीय ढाँचे तथा आचार, भारतीय इतिहास और अर्थ-शास्त्र आदि के अध्ययन के लिए व्यतीत करना पड़ता है। परिवीक्षाधीन

व्यक्तियों को भारत-स्थित सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों के पर्यटन के लिए भी भेजा जाता है।

२—अन्तर्राष्ट्रीय विधि, समकालीन इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन तथा अरबी, चीनी, फ्रेंच, जर्मन, जापानी, फारसी, रूसी और स्पेनिश भाषाओं में से किसी एक का प्रारम्भिक अध्ययन, किसी विदेश-स्थित विश्व-विद्यालय में एक शैक्षणिक वर्ष तक करना। इनमें से एक भाषा का अध्ययन करके प्रत्येक परिवीक्षाधीन को एक निर्धारित स्तर की परीक्षा में सफल होना पड़ता है। विना इसके मुस्तकिली नहीं होती।

३—लगभग दो मास लन्दन में एक विशेष पाठचर्या के लिए रहना, जिसकी व्यवस्था विदेश कार्यालय 'कनिष्ठ-विदेश-सेवाधिकारियों' (Junior Forcign Service officers) के लिए करता है।

४—छः मास का प्रगत भाषाध्ययन, ऐसे देश में जहाँ वह भाषा बोली जाती है।

५—एक वर्ष मुख्यालय में। इस काल में परिवीक्षाधीन व्यक्ति थोड़े थोड़े समय के लिए विदेश मंत्रालय के विभिन्न क्षेत्रीय, प्रशासकीय तथा कार्यसम्बन्धी विभागों से तथा कुछ समय के लिए वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय से संलग्न किये जाते हैं। वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय ही उनके लिए भारत के प्रमुख वाणिज्यिक एवं औद्योगिक केन्द्रों के पर्यटन की व्यवस्था करता है।

मुख्यालय के प्रशिक्षण के अन्त में परिवीक्षार्थियों को विदेशाधिकरण (Protocol), पार-पत्र एवं दृष्टांक विपयक नियमों, राजनीतिक कार्य, हिन्दी एवं 'लेखा और स्थापना (Accounts and Establishment)' में परीक्षा देनी पड़ती है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं और उपर्युक्त विदेशी भाषाओं में से किसी एक में योग्य मान लिये जाते हैं वे विदेश सेवा में मुस्तकिल कर दिये जाते हैं। विदेश में ये तृतीय सचिव या उपवाणिज्य दूत की नाईं नियुक्त किये जाते हैं।

६—किसी भारतीय जिले में छः मास का प्रशिक्षण, जिससे स्थानीय प्रशासकीय समस्याओं, भारतीय अर्थशास्त्र तथा विकास कार्यों की प्रगति का अधिक ज्ञान हो सके। यह नवीन कार्यक्रम सन् १९५४-५५ में जोड़ा गया है।

परिशिष्ट 'क'

संधियाँ, संधिवार्ता तथा उनका उपसंहार

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों, राज्याधिपतियों, अथवा राज्यशासनों के बीच जो भिन्न-भिन्न प्रकार के करार (agreements) होते हैं उन्हें संधि कहते हैं। यद्यपि उनके लिए अनेक प्रकार के नाम प्रचलित हैं किन्तु उनका अभेद रूप से प्रयोग किया जाता है।

यद्यपि संधियाँ अधिकांशतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय हैं तथापि उनकी संधिवार्ता तथा उपसंहार की प्रक्रिया राजनय से सम्बन्धित है क्योंकि इसमें राजनयिक प्रतिनिधियों का ही प्रमुख भाग रहता है। अतएव यहाँ संक्षेप में इस संधिवार्ता तथा उपसंहार की रूपरेखा दी गयी है। **द्विपक्षीय संधियाँ**—दो राज्यों के बीच होनेवाली संधि के लिए सर्वप्रथम सम्बन्धित दोनों राज्यों में से एक राज्य दूसरे से अपनी संधि करने की इच्छा प्रकट करता है तथा संधि का विषय भी बताता ह। यह इच्छा स्पष्टतः अपने राजनयिक प्रतिनिधि के द्वारा प्रकट की जाती है। भावी संधि का ढाँचा क्या होगा, इसके लिए उसका प्रारूप भी प्रायः प्रस्तावक राज्य ही प्रस्तुत करता है। यदि दूसरा राज्य प्रस्तावित विषय पर संधि करने को सहमत हो जाता है तब फिर वह प्रस्तुत प्रारूप पर विचार करता है और उससे सिद्धान्ततः सहमत हो जाने पर ही पारस्परिक संधिवार्ता प्रारम्भ होती है। प्रायः संधिवार्ता के लिए दोनों पक्षों में से किसी एक की राजधानी को ही स्थान के रूप में चुना जाता है। यदि राजधानी में संधिवार्ता होती है तब तो प्रायः उस राज्य के विदेश विभागीय कार्यालय में ही होती है।

संधिवार्ता में भाग लेनेवालों में उस राज्य का विदेश मंत्री अथवा अन्य सम्बन्धित पदाधिकारी प्रमुख रहता है, जिसकी राजधानी संधि-स्थल चुनी जाती है। दूसरे राज्य की ओर से उसका राजदूत अथवा पूर्ण शक्तिप्राप्त अन्य राजनयिक प्रतिनिधि संधिवार्ता में भाग लेता है।

जब दोनों पक्ष संधि-विषय, उसकी शब्दावली तथा अन्तिम स्वरूप पर

सहमत हो जाते हैं तब उस सहमत स्वरूप का एक अभिलेख तैयार किया जाता है। यह अन्तिम संधि-अभिलेख दोनों पक्षों की राष्ट्रभाषाओं में तैयार किया जाता है। इस अभिलेख की दो मूल प्रतियाँ तैयार की जाती हैं। प्रत्येक प्रति में पृष्ठ दो समानान्तर खड़े स्तम्भों (Columns) में विभक्त किया जाता है। इनमें से एक स्तम्भ में एक पक्ष की राष्ट्रभाषा में संधि का मूल लेख रहता है, तथा दूसरे स्तम्भ में दूसरे पक्ष की राष्ट्रभाषा में मूल लेख रहता है जो पहली के समानान्तर रहता है। संधि-अभिलेख की इन दो मूल प्रतियों में से एक के बाँये स्तम्भ में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसका प्रयोग दूसरी प्रति के बाँये स्तम्भ में नहीं वरन् दाहिने स्तम्भ में किया जाता है। संधि-अभिलेख को इस ढंग से समानान्तर खड़े स्तम्भों में दोनों भाषाओं में लिखे जाने की विधि को 'एकांतरता' (Alternation) कहते हैं। कभी-कभी दोनों पक्षों के सहमत हो जाने से दोनों के द्वारा चुनी हुई विदेशी भाषा में भी संधि का एक मूल लेख तैयार कराया जाता है। प्रायः संधि-व्याख्या-विषयक मतभेद होने पर इस विदेशी भाषा के लेख को ही मान्य समझा जाता है।

इतना सब हो जाने पर संधि पर हस्ताक्षर किये जाते हैं जो दोनों पक्षों के बीच पहले से निश्चित किये हुए समय तथा स्थान पर किये जाते हैं। संधि पर हस्ताक्षर यदि दोनों पक्षों में से किसी एक की राजधानी में होते हैं तब तो प्रायः परराष्ट्र विभागीय कार्यालय में ही किये जाते हैं। संधि पर हस्ताक्षर होने के पूर्व उक्त हस्ताक्षर के लिए प्रत्येक पक्ष अपने राजनयिक प्रतिनिधि को 'पूर्ण अधिकार' (Full Powers) देता है जिसे अन्य पक्ष के समक्ष प्रस्तुत करने पर तथा उनका आपस में विनिमय हो जाने पर संधि पर हस्ताक्षर किये जाते हैं। ये हस्ताक्षर बहुधा दोनों पक्षों के कुछ उपाधिकारियों की उपस्थिति में होते हैं। हस्ताक्षर करनेवाले अपने हस्ताक्षरों की बगल में अपनी निजी मुहर भी लगा देते हैं, यद्यपि मुहर लगाना आवश्यक नहीं है। यह सब कार्य पूर्ण हो जाने पर हस्ताक्षरित संधि की एक मूल प्रति उस पक्ष के राज्याभिलेखागार में रख दी जाती है जिसकी राजधानी में संधि पर हस्ताक्षर किये गये हों तथा दूसरी मूल प्रति अन्य पक्ष के पूर्ण शक्तिधारी को मुहरबन्द करके दे दी जाती है जो उसके राज्य के राज्याभिलेखागार में सुरक्षित कर दी जाती है।

वहुपक्षीय संधियाँ

वहुपक्षीय संधि दो से अधिक देशों के मध्य होती है। उसका संधि-विषय तथा तद्विषयक प्रावधान सम्बन्धित देशों के सम्मेलन अथवा अन्य वृहत् सम्मेलन में, जिसमें ऐसे देशों के प्रतिनिधि उपस्थित हों और भाग लेते हों, निश्चित किये जाते हैं। जब पारस्परिक विचार-विमर्श तथा चर्चा के पश्चात् सम्मेलन अन्तिम निर्णय पर पहुँच जाता है तब उसका अभिलेख संधि के रूप में तैयार किया जाता है जिस पर सम्बन्धित राज्यों के पूर्ण-अधिकारप्राप्त प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं। बहु-पक्षीय संधियों पर बहुधा हस्ताक्षर सभी पक्ष, अथवा, पक्षों के अतिरिक्त अन्य देश एक साथ उसी समय नहीं कर देते वरन् एक निश्चित समय तक, जिस पर सब सहमत हों, उस संधि पर हस्ताक्षर करने की स्वतंत्रता दी जाती है। ऐसा एक ही प्रति पर किया जाता है जो मूल प्रति ही होती है क्योंकि बहुपक्षीय संधियों की बहुधा एक ही मूल प्रति तैयार की जाती है। इस मूल प्रति को उसी भाषा में तैयार किया जाता है, जिस पर सभी सम्बन्धित देश सहमत हो जाते हैं, परन्तु बहु-पक्षीय करार कई भाषाओं में भी तैयार किये जाते हैं। यह हस्ताक्षरित तथा मुहर लगी हुई संधि सम्बन्धित संघटन के राज्याभिलेखागार में रख दी जाती है अथवा फिर उस देश के राज्याभिलेखागार में रखी जाती है जहाँ उक्त सम्मेलन हुआ हो। ऐसे संघटन या देश को उक्त संधि का 'निक्षेपी' (Depositary) कहते हैं। प्रत्येक सम्बन्धित शासन को यह निक्षेपी उक्त हस्ताक्षरित संधि की एक या अधिक प्रमाणित प्रतिलिपियाँ देता है। हस्ताक्षर करनेवाले प्रतिनिधि संधि के अनुसमर्थन (Ratification) के लिए उसकी प्रमाणित प्रतिलिपि अपने देश के उचित अधिकारी के पास भेज देते हैं। अनु-समर्थन हो जाने पर तत्सम्बन्धी लेख्य भी उक्त निक्षेपी के पास जमा कर दिया जाता है।

निक्षेपी को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त ये कार्य और करने पड़ते हैं—

१—किसी पक्ष द्वारा अनुसमर्थन-विषयक लेख्य जमा कर दिये जाने पर उसकी सूचना मय अपवादों (Reservations) के अन्य पक्षों को देना।

२—इन अपवादों को स्वीकृत या अस्वीकृत करते हुए जो भी उत्तर अन्य पक्षों के आते हैं उन्हें अंगीकृत करना।

३—प्रत्येक ऐसे उत्तर के विषय में अन्य सब पक्षों को सूचित करना।

उपसंहार

संधि के सम्बन्ध में उपसंहार (Conclusion) शब्द का प्रयोग संधिवार्ता की समाप्ति तथा हस्ताक्षर करने के लिए किया जाता है।

अनुसमर्थन

किसी राज्य के द्वारा किसी संधि को अंतिम तथा आधिकारिक रूप से स्वीकार कर लेने तथा प्रस्थापित करने के कार्य को अनुसमर्थन (Ratification) कहते हैं। इस जनतंत्रात्मक युग में संधि-विषयक अन्तिम अधिकार देश के चुने हुए विधानमंडल अर्थात् संसद को ही प्राप्त हैं। इसलिए जब तक किसी राज्य की सम्बन्धित संस्था द्वारा किसी संधि का अनुसमर्थन नहीं कर दिया जाता तब तक वह राज्य उससे बाध्य नहीं माना जाता। और जब संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले सभी राज्यों द्वारा उसे अनुसमर्थित कर दिया जाता है तभी वह व्यावहारिक रूप में प्रवृत्त समझी जाती है।

संधि के अनुसमर्थन के विषय में या तो संधि में ही प्रावधान (प्राविजन) रहता है अथवा तद्विषयक संधिवार्ता में भाग लेनेवाले या उस पर हस्ताक्षर करनेवाले प्रतिनिधियों की पूर्ण शक्तियों में अनुसमर्थन की शर्त रहती है अथवा फिर संधि के स्वरूप एवं परिस्थितियों से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि अनुसमर्थन अनिवार्य है या नहीं।

परिशिष्ट 'ख'

विदेशों में भारतीय प्रेषण (Mission)[1]

१—राजदूतावास (निम्नलिखित देशों में भारत के राजदूत नियुक्त हैं)—

(१) अफगानिस्तान
(२) अर्जेन्टाइना
(३) आयरलैंड—प्रेषणाधिपति लंदन में रहते हैं।
(४) इन्डोनेशिया (हिन्द-एशिया)
(५) इटली
(६) इराक
(७) ईरान
(८) ईथियोपिया
(९) चीन
(१०) चेकोस्लोवेकिया
(११) जर्मनी—ये बर्लिन स्थित भारतीय सैनिक प्रेषण के भी अधिपति हैं।
(१२) जापान
(१३) नीदरलैंड्स
(१४) नेपाल
(१५) पोलैंड—राजदूत मास्को में रहते हैं।
(१६) फ्रांस
(१७) बर्मा
(१८) ब्राजिल
(१९) बेलजियम

१. भारतीय प्रेषणों में से कई राजदूतों या उच्चायुक्तों को या आयुक्तों को कई अन्य स्थानों के अमात्य आदि के रूप में भी कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

(२०) मिस्र[1]
(२१) मैक्सिको—प्रेषणाधिपति वाशिंगटन में रहते हैं। राजदूत के मैक्सिको से अनुपस्थित रहने पर प्रथम सचिव अंतरिम-कालीन कार्यदूत की तरह कार्य करता है।
(२२) टर्की
(२३) यूगोस्लाविया
(२४) संयुक्त राज्य अमेरिका
(२५) स्याम (थाईलैंड)
(२६) स्विटज़रलैंड
(२७) सोवियत रूस

२—उच्चायोग (High Commissions)

(१) आस्ट्रेलिया
(२) कनाडा
(३) न्यूजीलैंड—प्रेषणाधिपति कैनबेरा में रहते हैं।
(४) पाकिस्तान—दो उप-उच्चायुक्त ढाका तथा लाहौर में रहते तथा सहायक उच्चायुक्त हैदराबाद और राजशाही में रहते हैं।
(५) यूनाइटेड किंगडम (इंग्लैंड, स्काटलैंड,वेल्स को मिलाकर जो संयुक्त राज्य बना है उसे यूनाइटेड किंगडम कहते हैं)।
(६) सीलोन (लंका)

३—प्रणिध्यावास (Legations)

(१) आस्ट्रिया—अमात्य बर्न में रहते हैं।
(२) चिली—अमात्य ब्यूनस आयर्स में रहते हैं।
(३) जार्डन—अमात्य बगदाद में रहते हैं।
(४) नार्वे—अमात्य पेरिस में रहते हैं।
(५) फिलिपाइन्स

१. अब मिस्र, सीरिया और यमन मिलकर संयुक्त अरब गणतंत्र बना है।

(६) फिनलैंड—अमात्य स्टॉकहोम में रहते हैं।
(७) बल्गेरिया—अमात्य बेल्ग्रेड में रहते हैं।
(८) डेनमार्क—अमात्य स्टॉकहोम में रहते हैं।
(९) रूमानिया—अमात्य बेल्ग्रेड में रहते हैं।
(१०) लक्ज़ेम्बर्ग—अमात्य ब्रूसेल्स में रहते हैं।
(११) लेबनान—अमात्य काहिरा में रहते हैं।
(१२) लीबिया—अमात्य काहिरा में रहते हैं।
(१३) वेटिकन (Vatican) अमात्य बर्न में रहते हैं।
(१४) सउदी अरब (जेद्दा)
(१५) सीरिया
(१६) स्वीडन
(१७) हंगरी—अमात्य मास्को में रहते हैं।

४—विशेष प्रेषण (Special Missions)

(१) कम्बोडिया (कम्बोज) (२) बर्लिन, (३) भूटान, (४) संयुक्त राष्ट्र, (५) सिक्किम, (६) सूडान।

५—आयोग (Commissions)

(१) अदन, (२) गोल्डकोस्ट, (३) नाइजीरिया–जहाँ के लिए प्रेपणाधिपति अकरा में रहते हैं, (४) फिजी, (५) ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका, (६) ब्रिटिश वेस्ट इंडीज़ (मय ब्रिटिश गायना के), (७) मलाया, (८) मारिशस, (९) सेन्ट्रल अफ्रीकन फेडरेशन–जहाँ के लिए आयुक्त नैरोबी में रहते हैं।

६—महावाणिज्य दूतावास तथा वाणिज्य दूतावास

(१) सिकन्दरिया, (२) बेलजियन कांगो–महावाणिज्य दूत नैरोबी में रहते हैं, (३) कोपेनहेगन, (४) जेनेवा, (५) बसरा, (६) गोवा–यहाँ का भारतीय वाणिज्य दूतावास गोवा-स्वातंत्र्य प्रश्न पर भारत-पोर्तगीज सम्बन्ध खराब हो जाने के कारण सन् १९५५ में बन्द कर दिया गया, (७) मेशेद, (८) न्यूयार्क, (९) रुआन्डा यूरुन्डी–महावाणिज्य दूत नैरोबी में रहते हैं, (१०) सैगौन, (११) सैन फ्रांसिस्को, (१२) शंघाई, (१३) ल्हासा, (१४) मेदान (Medan) (१५) मस्कत, (१६) हनोई (वियतनाम),

(१७) वियेनटियेन (लाओस), (१८) मेडागास्कर--प्रेषणाधिपति पोर्ट लुई में रहते हैं।

७--उपवाणिज्य दूतावास

(१) जलालावाद (अफगानिस्तान)

(२) कन्दहार (अफगानिस्तान)

(३) जाहिदान (ईरान)

(४) कोवे (जापान)

८--अभिकरण (एजेंसी)

(१) मलाया

(२) ग्यान्टसी

(३) गरटोक

(४) यातुंग।

परिशिष्ट 'ग'

भारत में वैदेशिक प्रेषण

१—राजदूतावास

(१) अफगानिस्तान
(२) अर्जेन्टाइना
(३) इन्डोनेशिया (हिन्द-एशिया)
(४) इटली
(५) इराक
(६) ईरान
(७) ईथियोपिया
(८) चीन
(९) चेकोस्लोवेकिया
(१०) जापान
(११) नीदरलैंड्स
(१२) नेपाल
(१३) पोलैंड
(१४) फ्रांस
(१५) फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी
(१६) बर्मा
(१७) ब्राजिल
(१८) बेलजियम
(१९) मिस्र
(२०) मैक्सिको
(२१) टर्की
(२२) यूगोस्लाविया

(२३) स्याम (थाईलैंड)

(२४) संयुक्त राज्य अमेरिका

(२५) सोवियत रूस

२—उच्चायोग

(१) आस्ट्रेलिया, (२) कनाडा, (३) पाकिस्तान, (४) यूनाइटेड किंगडम, (५) सीलोन (लंका)।

३—प्रणिध्यावास

(१) आस्ट्रिया, (२) चिली, (३) जार्डन, (४) नार्वे, (५) पोर्तगाल, (६) फिलिपाइन्स, (७) फिनलैंड, (८) डेनमार्क, (९) सऊदी अरब, (१०) स्वीडन, (११) सीरिया, (१२) स्विटजरलैंड, (१३) हंगेरी, (१४) होली सी (Holy sea)।

४—भारत-स्थित वैदेशिक वाणिज्यदूतीय कार्यालय

देश	स्थान	पद-स्थिति
(१) अफगानिस्तान	वम्वई	महावाणिज्य दूतावास
(२) आस्ट्रिया	मद्रास	वाणिज्य दूतावास
(३) आस्ट्रिया	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(४) आस्ट्रिया	वम्वई	वाणिज्य दूतावास
(५) इण्डोनेशिया	वम्वई	वाणिज्य दूतावास
(६) इण्डोनेशिया	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(७) इराक	वम्वई	महावाणिज्य दूतावास
(८) इसरायल	वम्वई	वाणिज्य दूतावास
(९) इटली	वम्वई	वाणिज्य दूतावास
(१०) इटली	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(११) ईरान	वम्वई	महावाणिज्य दूतावास
(१२) इक्वेडोर	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(१३) ऐल्सालवेडोर	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(१४) कोलम्बिया	कलकत्ता	वाणि०दूतावास (रिक्त)

देश	स्थान	पदस्थिति
(१५) कोलम्बिया	मद्रास	महावाणिज्य दूतावास
(१६) कोस्टारायका	बम्बई	वाणिज्य दूतावास
(१७) कोस्टारायका	मद्रास	महावाणिज्य दूतावास
(१८) क्यूबा	कलकत्ता	वाणिज्यिक अभिकरण
(१९) ग्रीस	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(२०) ग्रीस	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(२१) चीन	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(२२) चीन	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(२३) चेकोस्लोवेकिया	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(२४) जर्मनी	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(२५) जर्मनी	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(२६) जर्मनी	मद्रास	वाणिज्य दूतावास
(२७) जापान	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(२८) जापान	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(२९) नार्वे	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(३०) नार्वे	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(३१) नार्वे	कोचीन	उपवाणिज्य दूतावास
(३२) नार्वे	मद्रास	वाणिज्य दूतावास
(३३) निकारागुआ	बम्बई	,, ,,
(३४) ,,	कलकत्ता	,, ,,
(३५) नीदरलैंड्स	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(३६) ,,	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(३७) ,,	कोचीन	,, ,,
(३८) ,,	मद्रास	,, ,,
(३९) नेपाल	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(४०) पनामा	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(४१) पेरू	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास

देश		स्थान	पदस्थिति
(४२) पोर्तगाल	[गोवा-स्वातंत्र्य-	बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(४३) ,,	प्रश्न को लेकर	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(४४) ,,	पोर्तगाल-वाणिज्य दूतावास बंद कर दिये गये हैं]	मद्रास	वाणिज्य दूतावास
(४५) फ्रांस		बम्बई	वाणिज्य दूतावास
(४६) ,,		कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(४७) ,,		कोचीन	वाणिज्यिक अभिकरण
(४८) ,,		मद्रास	वाणिज्य दूतावास
(४९) फिनलैंड		बम्बई	वाणिज्य दूतावास
(५०) बर्मा		कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(५१) ,,		मद्रास	उपवाणिज्य दूतावास
(५२) ब्राजिल		बम्बई	वाणि० दूतावास (रिक्त)
(५३) ,,		कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(५४) बेल्जियम		बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(५५) ,,		कलकत्ता	,, ,,
(५६) ,,		मद्रास	वाणिज्य दूतावास
(५७) बोलिविया		कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(५८) मिस्र		बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(५९) ,,		कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(६०) टर्की		बम्बई	,, ,,
(६१) डेनमार्क		बम्बई	,, ,,
(६२) ,,		कलकत्ता	,, ,,
(६३) ,,		कोचीन	,, ,,
(६४) ,,		मद्रास	,, ,,
(६५) डोमिनिकन रिपब्लिक		बम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(६६) यूरुवे		नई दिल्ली	महावाणिज्य दूतावास

	देश	स्थान	पदस्थिति
(६७)	यूगोस्लाविया	वम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(६८)	लक्जेम्वर्ग	,,	उपवाणिज्य दूतावास
(६९)	साइवीरिया	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(७०)	वेनुजुएला	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(७१)	सऊदी अरव	वम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(७२)	सीरिया	वम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(७३)	स्पेन	वम्बई	वाणिज्य दूतावास
(७४)	,,	कलकत्ता	उपवाणिज्य दूतावास
(७५)	,,	मद्रास	,, ,,
(७६)	स्विट्जरलैंड	वम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(७७)	,,	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(७८)	,,	कोचीन	वाणिज्यिक अभिकरण
(७९)	,,	मद्रास	,, ,,
(८०)	स्वीडन	वम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(८१)	,,	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(८२)	,,	मद्रास	,, ,,
(८३)	संयुक्त राज्य अमेरिका	वम्बई	महावाणिज्य दूतावास
(८४)	,,	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(८५)	,,	मद्रास	,, ,,
(८६)	स्याम	कलकत्ता	महावाणिज्य दूतावास
(८७)	हाइटी	कलकत्ता	वाणिज्य दूतावास
(८८)	मानेको (Monaco)	नई दिल्ली	महावाणिज्य दूतावास
(८९)	,,	वम्बई	वाणिज्य दूतावास

परिशिष्ट 'घ'

इस पुस्तक में प्रयुक्त कुछ आवश्यक हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

अखंडता	Integrity
अग्रदूत	Herald
अग्रत्व (पूर्ववर्त्तिता)	Precedence
अग्रेविचार्य	Ad Referendum
अन्तर्राष्ट्रीय समागम	International intercourse
अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिश्रुति	International engagement
अन्तर्राष्ट्रीय विधि	International law
अन्तःस्थ राज्य	Buffer state
अन्तरिम कालीन कार्य-दूत	Chargè d'affairs ad interim
अंतिम प्रतिज्ञा, अंतिमेत्थम्	Ultimatum
अधिकारीय पत्र	Official Note
अवीन सचिव	Under Secretary
अनुभाग	Section
अधिसभा	Senate
अधिकारपत्र (उपाधिपत्र)	Diploma
अधिराज्य	Dominion
अन्तरनिमेय	Interchangeable
अनतिक्रमणीय	Sacrosanct
अनतिक्रमणीयता	Inviolability
अनुज्ञप्ति	Licence
अनुदेश	Instructions
अनुसमर्थन	Ratification

अनुग्राही	Accommodating
अनुशास्ति	Sanctions
अनभ्याक्रमण	Non-aggression
अनुवंधित	Annexed
अपहृत	Abducted
अपवाद	Reservations
अभिव्यापक	Inclusive
अभिरुचि क्षेत्र	Sphere of interest
अभिभाषण	Address
अभिसमय	Convention
अभिलाषाएँ	Voeux
अभिकरण	Agency
अभिकर्ता	Agent
अभिस्वीकृति	Acknowledgement
अमेरिकन जीवन प्रणाली	American Way of life.
अमैत्रीपूर्ण कृत्य	Unfriendly Act.
अवशिष्ट	Residual
असामान्य दूत	Envoy Extraordinary
असमाधेय	Irreconcilable
आचार	Practice
आत्मविवृद्धि	Selfaggrandizement.
आनुषंगिक	Consequential
आह्वान करना	To invoke
उच्चायुक्त	High Commissioner
उत्तरदायी पत्र	Responsible Press
उत्तर-पूर्वी सीमांतीय_अधिकरण	North Eastern frontier Agency
उत्प्रवास	Emigration

उत्प्रवासी	Emigrants
उत्प्रवासियों का रक्षक	Protector of Emigrants
उद्‌विकास	Evolution
उद्विवासन	Deportation
उन्मुक्तियाँ	Immunities
उन्मुक्त-द्वार नीति	Open Door Policy
उपसंहार	Conclusion
उपवाणिज्य दूत	Vice Consul
उपाधिकारी	Official
उरंगम पत्र	Reptile Press
उलझानेवाली संमैत्रियाँ	Entangling Alliances
एकपक्षीय घोषणा	Unilateral declaration
एकराजाधिपत्य / एकराजतंत्र	Monarchy
एकांतरता	Alternation
कठोरता	Rigidity
कनिष्ठ	Junior
कर्मचारिवृन्द	Staff
करार (संविदा)	Agreement
कल्याण	Welfare
कार्यक्षमता (दक्षता)	Efficiency
कार्यपालक	Executive
कार्यदूत	Charge' d'affaires
कार्यानुमति	Exequatur
क्रिया	Action
क्षतिपूर्ति	Reparation
क्षेम-गमन	Safe Conduct
क्षेत्रीय परिषद	Amphictyonic Council

खोज-सेवा	Search Service
गठन एवं प्रणाली अनुभाग	Organization and Methods Section
गणतंत्र	Republic
गुप्तचरी	Spying
गुप्त वार्ता	Intelligence
गूढ़ लेख	Cypher
चक्र सिद्धान्त	Cyclical Theory
चरमाधिनियम	Acte Final, General or Final Act.
चौदह प्रस्ताव	Fourteen Points
जितेन्द्रिय	Stoic
टिप्पण	Note
डाकदिवस	Bag day
डालर साम्राज्यवाद	Dollar Imperialism
तथ्यमूलक	De facto
तुष्टीकरण	Appeasement
तृतीय सचिव	Third Secretary
दृष्टांक	Visas
दूत	Envoy
दूत-वरिष्ठ	Doyen (of the Diplomatic Corps)
दूतावास-प्रेष	Diplomatic Bag
देश-प्रत्यावर्तन	Repatriation
द्विपक्षीय	Bilateral
धर्मनिरपेक्ष	Secular
धारणा	Conviction
नयी दुनिया	New World

नवीन राजनय	New Diplomacy
निक्षेपी	Depositary
नियुक्तिपत्र	Lettre' de provision
निरीक्षक वर्ग	Inspectorate
नियंत्रक	Controller
निर्वाध गमन	Laissez Passer
निषेधक	Exclusive
निष्ठा	Loyalty
निष्कपट यात्राधिकार	Right of innocent passage
निष्क्रांत	Evacuees
नीतिज्ञ	Statesman
नैसर्गिक विधि (प्राकृतिक विधि)	Natural Law
नौसैनिक सहचारी	Naval Attache'
न्यायोचित व्यवहार	Fair dealing
न्यून कथन	Euphemism
पंजीवद्ध	Registered
पत्तन हजसमिति	Port Haj Committee
पत्रकारसम्मेलन	Press Conference
पत्र-सहचारी	Press Attache'
पदस्थिति, स्थिति	Status
पदोन्नति	Promotion
परम श्रेष्ठ	Excellency
परम सत्ता, संप्रभुसत्ता	Sovereignty
परमैकराजाधिपति	Absolute Monarch
परमैकराजाधिपत्य	Absolute Monarchy
परिग्राहक राज्य	Receiving State
परिग्राह्य व्यक्ति	Persona Grata
परिनियम (परिनियत)	Statute (statutory)

परिरक्षण	Preservation
परिवीक्षा	Probation
परिषद्	Council
पर्यटक राजदूत	Roving Ambassador
पर्यवेक्षण	Supervision
पवित्र रोम साम्राज्य	Holy Roman Empire.
पाठ्यचर्या	Course (of Study)
पारपत्र	Pass port
पुनरीक्षण	Revision
पूर्णशक्त प्रतिनिधि	Plenipotentiary Repr sentative
पूर्णशक्तामात्य	Minister Plenipotentiary
पूर्णशक्तिधारी	Plenipotentiary
पूर्ण शक्तियाँ	Full Powers
पोपीय राजदूत	Legate
पोपीय संदेशवाहक	Nuncio
प्रकार्य	Functions
प्रकाशन	Publicity
प्रकाशन अवस्थान	Publicity Post
प्रकीर्ण	Miscellaneous
प्रगत	Advanced
प्रचार	Propaganda
प्रणिध्यावास	Legation
प्रति-वाणिज्यदूत	Pro-Consul
प्रतिवेदक	Rapporteur
प्रतिश्रुति	Engagement
प्रतिषेध	Remonstration
प्रत्यक्ष कर	Direct Tax

प्रत्यय-पत्र	Letter of credence
प्रत्ययित करना	To accredit
प्रत्यर्पण	Extradition
प्रत्यादान	Recovery
प्रत्याह्वान	Recall
प्रत्याह्वान पत्र	Letter of Recall
प्रनियम	Principles
प्रभवत्	Dominant
प्रभाव-क्षेत्र	Sphere of influence
प्रभारी अधिकारी	Officer-in-charge
प्रवृत्त होना	To come into force
प्रशासकीय	Administrative
प्रशिक्षित	Trained
प्रसंविदा	Covenant
प्राध्यक्ष	Commissar
प्रावधान	Provision
प्राविधिक	Technical
प्रेरित पत्र	Inspired Press
प्रेषण	Mission
प्रेषणाधिपति	Head of the Mission
बड़ी शक्तियाँ	Great Powers
बहुपक्षीय	Multilateral
बाक्सर विद्रोह	Boxer rebellion
बृहद्-यष्टिका नीति	Big Stick Policy
भरण-पोषण	Maintenance
भौगोलिक अभिव्यक्ति	Geographical Expression
मंडल	Board
मंत्रालय	Ministry

मतैक्य	Accord
मध्ययुग	Middle Ages
मध्य-पूर्व (पश्चिमी एशिया)	Middle East (West Asia)
मनरो सिद्धान्त	Monro Doctrine
महानिरीक्षक	Inspector General
महामात्रालय	Chancelleries
महासचिव	Secretary General
मान्यता	Recognition
मित्रराष्ट्रीय खाद्य-परिषद	Allied food Council
मित्र तथा सम्बद्ध राष्ट्रों की सर्वोच्च युद्ध-परिषद	Supreme War council of the Allied and Associated Powers
मितव्ययिता	Economy
मुख्यालय	Head Quarters
मौखिक टिप्पण	Note Verbale
युद्धकारण	Casus Belli
युद्ध-पूर्वस्थिति	Status Quo Ante Bellum
युद्ध और शान्ति की विधि के सम्बन्ध में	De Jure Belleac Pacis
युध्यमान अधिकार	Belligerent Rights
यूरोपीय प्रतिरक्षा संधि	European Defence Treaty
यूरोप-संविधा	Concert of Europe
यौद्ध मनोवृत्ति	Bellicose Mentality
यौद्धिक क्रय और वित्तविषयक मित्रराष्ट्रीय परिषद	Allied Council on War Purchases and Finance
रक्त तथा लौह	Blood and Iron
राजनयिक निकाय	Diplomatic corps
राजनयिक पतंगवाजी	Diplomatic Kite flying
राजनयिक प्रेषण	Diplomatic mission

राज-प्रश्रय	Asylum
राज्यक्षेत्रातीत अधिकार	Exterritorial Rights
राज्य क्षेत्रातिरिक्त अधिकार	Extraterritorial Rights
राज्य समाज	Community of States
राज्याधिपति	Head of the State
राज्याभिलेखागार	Archives
राज्याभिलेखपाल	Archivist
राज्य-कारण	Raison D'E'tat
राज्य-विलोप	Extinction of State
राष्ट्र समाज	Community of Nations
राष्ट्र संघ	League of Nations
राष्ट्र मंडल	Commonwealth of Nations
लय सिद्धान्त	Rhythmical theory
लेखा और स्थापना	Accounts and Establishment
लेख्य	Document
लोच (स्थिति-स्थापकत्व)	Elasticity
लोकाचार	Custom
वन-जाति क्षेत्र	Tribal areas
वाणिज्य दूत	Consul
वाणिज्य दूतीय सेवा	Consular Service
वाणिज्य सहचारी	Commercial Attache'
वाणिज्यिक अभिकर्ता	Consular Agent
वाणिज्यिक मंडल	Consular District
वायुसैनिक सहचारी	Air Attache'
वासामात्य	Resident
विकल्प	Choice
वित्त सहचारी	Financial Attache'
विदेशाधिकरण	Protocol

विधिमूलक	De Jure
विधान मंडल	Legislature
विभाग	Division
विनियम	Regulation
विलयन	Merger
विवाचन	Arbitration
विवाचन संवित्	Compromis D'Arbitrage or Compromis
विशेषाधिकार	Privilege
विश्व-नीति	Welt Politic (World Policy)
व्यवसाय	Profession
व्यवहारवाद	Civil Suit
शक्ति नीति	Macht Politik
शक्ति-विभाजन	Division of Powers
शक्ति राजनीति	Power Politics
शक्तियाँ	Powers
शक्ति-संतुलन	Balance of Power
शास	Charter
शिशिक्षु (नौसिखिया) राजनयज्ञ	Amateur diplomatist
शैक्षणिक वर्ष	Academic year
संकलन	Compilations
संचालक	Director
संधिगत कारण	Casus Foederis
संधिवार्ता	Negotiation
संमैत्री	Alliance
संयुक्त राष्ट्र संघटन	United Nations organization
संलग्न	Attached
संवर्ग	Cadre

संवाद (संसूचना)	Communication
संव्यवहार करना	To deal with
सचिव	Secretary
सभा	Congress
समन्वय	Coordination
समर्पण संधियाँ	Capitulations
समवरोध	Blockade
समाप्ति	Termination
सम्मेलन	Conference
सम्मेलनीय राजनय	Diplomacy by Conference
सह-अस्तित्व	Co-existence
सहमिलन	Accession
सह सचिव	Joint Secretary
सांविधानिक एकराजतंत्र	Constitutional monarchy
सांस्कृतिक सहचारी	Cultural Attache'
सामूहिक टिप्पण	Collective Note
सामूहिक सुरक्षा	Collective Security
सिद्धान्त	Theory
सुदूर पूर्व (पूर्व एशिया)	Far East (East Asia)
सुप्रतिवेशी नीति	Good Neighbour Policy
सुसम्बन्ध प्रयोग	Good Offices
सूक्ष्म लेख (वृत्त)	Proce's Verbal
सैनिक अधिनायकत्व	Military Dictatorship
सैनिक राज्य	Military State
सैनिक सहचारी	Military Attache'
स्पष्ट भाषा में	En Clair
स्मृति पत्र	Aide Memoire
स्वच्छंद उद्योग	Free Enterprise

स्वास्थ्य परीक्षा मंडल	Medical Examination Board
स्वीकृति	Agre'ment (Agre'ation)
हरकारा	Courier.

ग्रंथ-सूची

Grantha

A Guide to Diplomatic Practice—by Sir Earnest Satow, 4th Ed, 1957 Edited by Sir Nevile Bland.

Diplomacy—By Harold Nicolson.

Old Diplomacy and New—By A. L. Kennedy, London, 1922.

The Principles and Practice of Diplomacy—By K. M. Panikkar.

Diplomatic History, 1713 to 1933 A. D.—By Sir Charles Petrie.

A History of European Diplomacy (1815 to 1914)—By Prof. R. B. Mowat.

International Relations Between the Two World Wars (1919 to 1939)—By E. H. Carr.

Europe and Beyond, By Sir J. A. R. Marriot.

Cambridge History of India;

American Diplomacy, 1900 to 1950, By George F. Kennan;

American Approach to Foreign Policy, By Dexter Perkins ;

New History of Marathas by Sir Desai; Vol. II, & III.

History of the Sikhs by H. R. Gupta 1944, Vols II & III.

International Law by L. Oppenheim.

A Treatise on International Law by Hall, 8th Edition 1924 London.

Digest of International Law Vol. 5. by Green Haywood Hackworth.

The Third English Embassy to Poona-Edited by J. H. Gense & D. R. Banaji, Bombay 1934.

Indian Constitution.

Constitution of the U. S. A.

Constitution (Fundamental law) of the Union of Soviet Socialist Republics.

Encyclopaedia Britannica Vol. VII (14th Ed.)

Chamber's Encyclopaedia (New Edition) Vol. IV.

अन्य

याज्ञवल्क्य-स्मृति, संशोधित संस्करण—(भाषा-टीका सहित) पं० गुरुप्रसाद शास्त्री टीकाकार, पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी (संशोधक)—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (छठी बार १९३०)।

मनुस्मृति—मणिप्रभा हिन्दी टीका सहित, टीकाकार—पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस (१९५३) ई०।

शुक्रनीति—पं० मिहिरचन्द्र की भाषा टीका सहित, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० १९५२।

किरातार्जुनीय (भारविकृत), सम्पादक श्री गौरीनाथ पाठक, शारदा पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी द्वारा वि० २००३ में प्रकाशित।

उत्कीर्ण लेखाञ्जलि—सम्पादक श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, प्रकाशक मास्टर खेलाड़ीलाल संस्कृत बुक डिपो, कचौड़ी गली—बनारस—तृतीय संस्करण २००८ वि०।

मुद्राराक्षस नाटक—विशाखदत्त कृत (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत हिन्दी संस्करण)

राजतरंगिणी—कल्हण कृत (हिन्दी अनुवाद—पं० नन्दकिशोर देव शर्मा कृत, ९७ चोर बागान, भारत मित्र प्रेस कलकत्ता, सं० १९५६) पृ० १६, पैरा १२०; पृ० ८९ पैरा २६०; पृ० १०७ पैरा ४४०।

महाभारत;
रामचरितमानस;
कोष —
Webster's New English Dictionary;
Oxford English-Dictionary;
श्री मोनियर विलियम्स तथा श्री वी० एस० आप्टे के "आंग्ल-संस्कृत शब्द-कोष", श्री वी० वी० भिडे का "संस्कृत-आंग्ल शब्दकोष", डा० रघुवीर का "वृहत् आंग्ल हिन्दी कोष", तथा चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा का "शब्दार्थ पारिजात"।
पुस्तिकाएँ —
American Foreign Policy, by D. W. Brogan ; (Oxford Pamphlet)
Russian Foreign Policy, by Barbara Ward. (Oxford Pamphlet)
Report (1954-55) of the External Affairs Ministry
Descriptive Memoir of External Affairs Ministry, April 1954.